सुरतस्थ श्रीजिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड ग्रन्थांकः—४८

नमः श्रीप्रवचनप्रणेतृभ्यः ।

श्रीखरतरगच्छेश्वर नवाङ्गीवृत्तिकार–अभयदेवसूरिपट्टालंकार–श्रीमज्जिनवल्लभसूरीश्व[illegible]स्थापितसंके:

श्रीमद्योगींद्रचूडामणियुगप्रधान–श्रीजिनदत्तसूरीश्वरविरचितम् ।

श्रीगणधर सार्द्धशतकम् ।

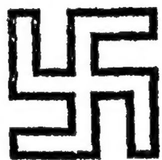
पंडितप्रवर श्रीपद्ममंदिरगणिविरचित–संक्षिप्तटीकासमलंकृतम् ।

यंगमयुगप्रधान–भट्टारक–श्रीजिनकृपाचंद्रसूरीश्वराणां शिष्यरत्न·उपाध्यायपदालंकृत सुखसागरमुनिवरोपदेशेन वैतुलवास्तव्येन श्रीमान्–कस्तुरचंदडागा–श्रेष्ठिवर्य्यस्य धर्मपत्नी श्रीमतिसौभाग्यवति लक्ष्मीबाईनाम्न्या प्रदत्तेन द्रव्यसाहाय्येन जबलपुरस्थित स्वर्गीय यतिश्रीमोतिचंदफंड-व्यवस्थापक–श्रीयुतचांदमल बोथरा-विहितद्रव्यसाहाय्येन च मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

प्रकाशकः—श्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभंडार कार्यवाहक सुरत ।

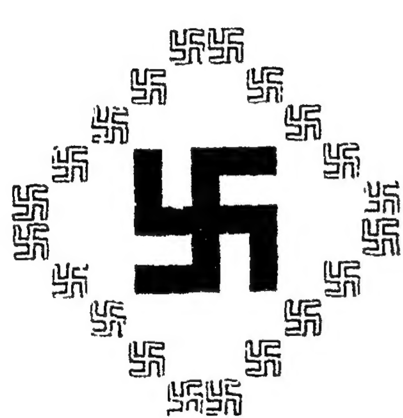
वि. सं. २००१ प्रत २५० भेट. इ. सन् १९४४

मुद्रकः—
शा. गुलाबचंद लल्लुभाई
श्रीमहोदय प्रेस–भावनगर.

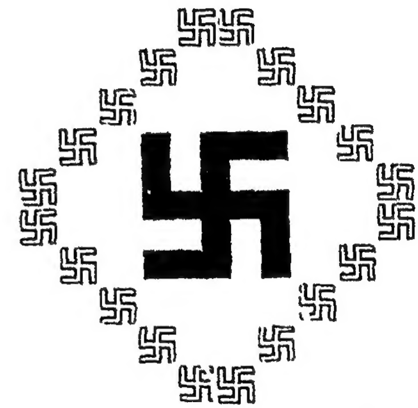


प्राप्तिस्थान—
श्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभंडार
ठे० गोपीपुरा सीतलवाडि,
मु. सुरत. (गुजरात)

श्री खरतरगच्छेश्वर जैसलमेर ज्ञानभंडारोद्धारक जं. यु. भ. श्री जिनकृपाचंद्रसूरीश्वरजी महाराज







जन्म सं. १९१३ : दीक्षा सं. १९३६ : आचार्य पद सं. १९७२ (बंबई) : स्वर्गवास सं. १९९४ (पालीताणा)

भू मि का ।

साहित्य क्या है ?

मानव जीवन में साहित्य का स्थान अत्यन्त उच्च एवं महत्वपूर्ण है । यह आज किसी भी साहित्यसेवी कों शायद ही बतलाने की आवश्यकता है । 'साहित्य ही राष्ट्र का प्राण है । साहित्य ही समस्त राष्ट्र को एक सूत्र में बद्ध कर सक्ता है तथा उसमें उत्साह का संचार कर सकता है । साहित्य ही भावी सन्तान का महान् पथ प्रदर्शक है । साथ ही साथ भावी पीढ़ी के मानवों की नसों में सुधा का संचार कर सकता है तथा अपने पूर्वजों की गौरव-मयी स्मृति को सदैव ताजा बनाये रखता है, जो किसी भी समाज की उन्नति में महान सहायक होता है । भूतकाल को वर्तमानकाल में परिणित करने को पूर्व निर्मित साहित्य ही प्रोत्साहित कर सकता है । जिस देश व धर्म का साहित्य जितना निर्दोष, विवेकपूर्ण और प्रौढ होगा वे राष्ट्र तथा धर्म उतने ही नीतिवान् समर्थ विचारवान् व उन्नत होंगे । महाराज भर्तृहरि की निम्न पंक्ति साहित्य की महत्ता समजने को काफी है—

संगीतसाहित्यकलाविहीन साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीनः ।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि **पूर्णजी** ने क्या ही अच्छा कहा है ।

अंधकार है वहां जहां आदित्य नहीं है, वह है मुर्दा देश जहां साहित्य नहीं है ।
जहां नहीं साहित्य वहां आदर्श कहां है, जहां नहीं आदर्श वहां उत्कर्ष कहां है ॥

संस्कृति और धर्म की रक्षा एक मात्र उस देश के साहित्य पर निर्भर है ।

जैन साहित्य—

साहित्य एक ऐसी चीज है जिसका सांप्रदायिक विभाजन कठिन सा प्रतीत होता है, तथापि उसके निर्माता और धर्मभेद के कारण विभाजन की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है ।

भारतीय साहित्य क्षेत्र में जैन साहित्य का स्थान अत्यन्त उच्च है और वह वस्तुतः है भी ठीक । क्योंकि रचयिताओं ने साहित्य का एक भी विषय अछूता न छोड़ा । साहित्य, व्याकरण, कोष, काव्य, अलंकार, नाटक, चम्पू, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, शिल्प, पशुविज्ञान, आयुर्वेद, ज्योतिष व कहानी आदि विषयों पर अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रभावोत्पादक, आलोचनात्मक ग्रन्थ जैन साहित्य में विद्यमान हैं ।

भारतीय भाषा विज्ञान की अपेक्षा से भी जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यकीय ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य है। प्राकृत अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती, कनाड़ी, हिन्दी, तामील, तेलगू, मराठी आदि आदि प्रान्तीय लोकभाषाओं में भी जैनसाहित्य प्रचूरमात्रा में उपलब्ध होता है जिनमें तत्कालिक, सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक तथा सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है । अन्य धर्मवालोंने प्रान्तीय लोकभाषा पर उतना ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि वे तो विद्वद्भोग्य भाषा में ही साहित्य रचना में व्यस्थ थे । लोक-

भाषा में रचना करने में अपना अपमान समझते थे। फल यह हुआ कि प्रान्तीय साहित्य उनसे सर्वथा अछूता रहा। वस्तुतः किसी भी सिद्धान्तादि के प्रचार के लिये जितनी प्रान्तीय भाषा उपयुक्त हो सकती है उतनी विद्वद्भोग्य भाषा नहीं। प्रान्तीयभाषा में प्रचारित सिद्धान्त ही सर्वग्राही हो सकते हैं जैसा कि श्रमण भगवान् महावीरने किया था।

जैन साहित्यप्रणेताओं ने स्वसाहित्य–निर्माण में ही व्यस्त न रहें; पर अन्य मतावलम्बियों के साहित्य पर भी अपनी विद्वत्ता पूर्ण गंभीर आलोचनात्मक कृतिओ निर्माण कर उसे लोकभोग्य करने का आदरणीय प्रयत्न किया है जो उनकी उदारता का परिचायक है। कई ग्रन्थ ऐसे जटिल और कठिन हैं जिनकी वृत्तियें, यदि जैनाचार्योंने निर्माण न की होतीं तो शायद ही आज कोई समझ पाता। जैसे कि कादम्बरी वृत्ति आदि।

जैन साहित्य अभी बहूत कुछ अप्रकाशित अवस्था में पड़ा हुआ है जिसका प्रकाशन भारतीयसंस्कृति की सुरक्षा के लिये अत्यन्त वान्छनीय है, इससे भारतीय गौरव में महान वृद्धि होगी, अत्यल्प प्रकाशित जैन साहित्य पर से विद्वज्जन इस अभिप्राय पर पहुंचे है कि भारतीय में से यदि जैन संस्कृत अपभ्रंश प्राकृतादि भाषा का साहित्य अलग कर दिया जाय तो न जाणे भारतीय साहित्य की क्या गति होगी? योरोपीय भारतीयादि विद्वान् पुरातन हस्तलिखित पुस्तकशोध विषयक रिपोर्टस में जैन साहित्य पर मुग्ध है इतना ही नहीं परंतु जैन साहित्य के किसी एक विषय पर महान् निबंध लिख यूरोपीय विश्वविद्यालयों से Di Litt. P. H. D. आदि विद्वत्तासूचक उपाधियें प्राप्त की है जिनमें से ये प्रमुख है, डॉ ओटो स्टाइन, P. H. D. प्रो. हेलमारुथ P. H. D. ग्लाजेनप्प आदि।

भारतीय साहित्य की बहुत ऐसी उलझनें है जो बिना जैन साहित्य अध्ययन के कदापि नहीं सुलझायी जा सकती जैसे

कि " वेदाङ्ग ज्योतिष् " अत्यन्त कठिन प्राचीन व संकेतमय ग्रन्थ है, जिसे एतद्विषयक विद्वान डॉ थीत्रो, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, शं. बा. दीक्षित, लोकमान्य तिलकादि विद्वानों ने इसे समझने के लिये शत प्रयत्न किये पर सर्व विफल ?।—अंत में यह जटिल समस्या महामहोपाध्याय डॉ आर, शामशास्त्रीने जैन साहित्य—सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करंडक काललोकप्रकाश से सुलझा कर ग्रन्थ को सर्वथा सरल बना डाला। साथ ही साथ यह सिद्ध कर दिया कि जैनागम साहित्य मात्र धार्मिक दृष्टियों से ही महत्व का नहीं है परन्तु तात्कालिक दार्शनिक ऐतिहासिक एवं व्यवहारिक आदि अनेक अपेक्षाओं से महत्वपूर्ण है, खेद मात्र इतना ही है कि वैज्ञानिक दृष्टि से अभी यथोचित अध्ययन नहीं हुआ। सौभाग्य की बात है कि शिक्षितों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थः—

जैन साहित्य में चरितानुवाद का स्थान आवश्यक समझा गया है, अन्य भारतीय साहित्य में इस विषय पर अत्यल्प ध्यान दिया गया है। उपरोक्त चरितानुवाद मात्र पूजनीय एवं अनुकरणीय हीं नहीं प्रत्युत सूक्ष्मता से वर्णित है। इस श्रेणि में परमोपकारी पूज्य तीर्थंकर भगवान के गणधरोद्वारा रचित सूत्रों के विषयीभूत साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविकाओं एवं आचार्यों तथा जैन शासन को सुशोभित करनेवाले—प्रभावनाकारक—राजामहाराजा मंत्री आदि के जीवनचरित्र सुविस्तृत प्रभावोत्पादक शैली में गद्य पद्यात्मक रूपेण उपलब्ध होते ऐसे जीवनचरित्रों से भारतीय इतिहास पर नूतन प्रकाश पड़ता है। इतिहास की उलझने दूर करते हैं।

प्रकृत ग्रन्थ जो आपके करकमलों में विराजित है—वह भी स्तुत्यात्मक चरितानुवाद की ही श्रेणि में आता है, यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ आचार्यों को छोड़कर शेप आचार्यों का स्मरण मात्र ही किया गया है, तथापि यह ग्रन्थ अपने ढंग का सर्व प्रथम प्रयत्न

है। यह प्रेरणा आचार्य **श्रीजिनदत्तसूरिजी**को कैसे, कहां सें मिली इसका उल्लेख कहीं वृत्ति में नहीं है, परंतु हम अनुमान लगाते हैं कि संभवतः चैत्यवासी **शीलांकाचार्यविनिर्मित "महापुरुषचरित्र"** से ही प्राप्त हुई होगी, क्योंकि उसमें सबोंके चरित्र है तव पूज्य आचार्यवर्य ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से भगवान महावीर [आदि तीर्थकरो का नाम निर्देश न कर आदि शब्द से सबका ग्रहण किया गया है] और यहां से जिनवल्लभसूरिजी तक के पूज्य गणधर आचार्य मुनियों का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर सबका स्मरण किया गया है। यद्यपि उपरोक्त ग्रन्थ में कालकाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, पादलिप्तसूरि, मानदेवसूरि, मानतुंगसूरि आदि कई महाप्रभाविक विद्वान आचार्यो का उल्लेख नहीं ऐसा क्यों किया गया होगा? कहना कठिन है तथापि यह लघु ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का है १५० प्राकृत गाथाओं में अति संक्षिप्त रूप से जैन इतिहास संकलित हैं जो जिनदत्तसूरिजी के इतिहासप्रेम का परिचायक है। जैन मुनियो को इतिहास बड़ा प्रेम रहा है, एतद्विषयक साहित्य भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जिनमें तो कई ग्रन्थ से महत्वपूर्ण जो भारतीय साहित्य ग्रन्थ अपना स्थान स्वतंत्र रखते हैं, जो आर्यावर्त के पुरातन गौरव पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं, प्रकृत ग्रन्थमें यदि प्रत्येक आचार्य का क्रमानुसार रूपवान सार परिचय दिया होता तो ग्रन्थ की ऐतिहासिक महत्ता और भी बढ़ जाती,

नामकरणः—

प्रकृत ग्रन्थ का नाम "गणधरसार्द्धशतक" मूल ग्रन्थकार का दिया हुआ है या अन्य किसी का? यह एक प्रश्न है। संपूर्ण ग्रंथावलोकन अनंतर कहीं पर भी नाम निर्देशात्मक उल्लेख नहीं मिलता, परंतु नामार्थ पर ध्यान देने से जरुर मालूम होता है कि गणधरशब्द की व्युत्पत्ति "गणं धारयतीति गणधरः" इस प्रकार है। गच्छनायक मालिक, अधिपति, आचार्य आदि गणधर के पर्याय-

वाची शब्द हैं और प्रस्तुतः ग्रन्थ में इन्हीं का स्तुत्यात्मक वर्णन १५० प्राकृत गाथाओं में किया गया है अतः नाम सुसंगत प्रतीत होता है। इसकी वृत्तियों में नामनिर्देश साफ तौर से पाया जाता है।

उद्देशः—

यह तो एक सर्वमान्य नियम है कि विश्व का कोई भी कार्य बिना किसी उद्देश से हो ही नहीं सकता। प्रश्न उपस्थित होता हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थनिर्माण कार्य में रचयिता का कौनसा उद्देश्य था ? हमें तो विदित होता है कि पूर्वजों—गणधरों और अपने परमोपकारी आचार्य मुनिगण के स्तुतिरूप से स्मरण कर उनके प्रति अपना कृतज्ञताभाव प्रदर्शित करने और पूर्व महापुरुषों की अक्षय कीर्ति-लता का तात्कालिक समाज का ज्ञान कराने उनको प्रमुदित करने के हेतु से ही प्रकृत ग्रन्थ निर्माण किया गया है। अतिरिक्त और कोई हेतु होने की संभावना नहीं प्रतीत होती है।

भाषाः—

उक्त ग्रन्थ की भाषा शुद्ध प्राकृत है। भाषा का सौंदर्य तथा प्रवाह अत्यन्त सुंदर बहाया गया है। भाषा वैविध्यता से विदित होता है कि, ग्रन्थाकार का इस पर विशेष प्रभुत्व था। माधुर्यता प्राकृतभाषा का प्रमुख गुण है, फिर समर्थ उपयोक्ता मिलने से स्वर्ण में सुगंधी आ गई। उपयोक्ता के गुरुजी भी प्राकृतभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे, यह लघु ग्रन्थ पर ४ टीकाएं आजतक उपलब्ध हुई हैं जो ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्ता को प्रदर्शित करती हैं।

बृहद्वृत्तिः—

यह वृत्ति उपलब्ध–वृत्तियों में सबसे प्राचीन और बड़ी है । श्लोकसंख्या १२००० हजार है । आचार्यवर्य्य–श्रीजिनपतिसूरिजी के विद्वान् प्रतिभासंपन्न शिष्य श्रीसुमतिगणिने वि. सं. १२९५ में इसे स्तंभतीर्थ से प्रारंभ कर क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरण करते करते मंडूप-दुर्ग–मांडवगढ में समाप्त की, प्रथमादर्श श्रीजिनेश्वरसूरिजी के शिष्य कनकचंदने लिखा, यह अत्यन्त वृत्ति विहार में ही निर्माण हुई है वह भी ऐसी अवस्था में जबकि एक ही स्थान पर सर्व प्रकार का साहित्य अनुपलब्ध था । यह इनकी बहुमुखीप्रतिभा का ही सुफल है, वर्ना इतना उत्कृष्ट काव्यालंकार युक्त ग्रन्थ निर्माण होना असंभव था । उपरोक्त वृत्ति में १५० गाथाओं का अत्यन्त सुन्दर रीति से विस्तृत विवेचन किया गया है । कहीं कहीं टीकाकार श्रीसुमतिगणिने नूतन ज्ञातव्यनिर्दिष्ट किये है जो विषय को समझने में सहायता करते हैं, यद्यपि वृत्ति गिर्वाण गिरा में गुम्फित है तथापि प्रसंगानुसार उसमें संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं के

---

१ प्रारब्धा श्री**स्तंभतीर्थे** वेलाकूले कुले श्रियाम् **मंण्डपदुर्गे** विबुधैः स्वर्गे चेयर्थिता ॥ ६ ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, वृत्तिरियं श्री**जिनेश्वर**गुरूणाम् ॥
अस्मद्गुरु गुरु पट्टप्रतिष्ठितानां, प्रभावताम् शिष्येण परोकृते, तपसिचवद्बोधडेन ॥ ७ ॥
कायोत्सर्गेऽतन्द्रेण, साधुना **कनकचन्द्रेण** ॥ ८ ॥

× × × × × × × × × ×

शरनिधिदिनकरे (१२९५) संख्ये, विक्रमवर्षे गुरौ द्वितीयायाम् राधे पूर्णाभूता वृत्तिरियं नन्दतात्सुचिरम् ॥
गणधरसार्द्धशतकबृहद्वृत्तिप्रशस्ति ।

अनेक पद्य उद्धृत किये हैं जो तत्कालीन भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। बहुत से प्रभावकों के जीवन विवेचन प्राकृत पद्यों में किया गया है, जैसे कि कोई निर्युक्ति ही हो, भाषा का प्रवाह इस भांति प्रवाहित हुआ है कि, मानो एक ही बैठक में लिखा गया हो, कहीं पर भी छिन्नभिन्नता के दर्शन नहीं होते, अनुप्रास तो इसकी प्रधान संपत्ति है, अलंकारों का बाहुल्य है, एतद्विषयप्रतिपादनार्थ अनेक साहित्यिक विद्वानों के—जैसे कि रुद्रट, मम्मट, अमरसिंहादि–मूल अभिमंतव्य संग्रहीत किये हैं, व्याकरणाचार्यों के भी अभिमत निर्दिष्ट है, इसमें " शब्दरत्नप्रदीप " नामक कोशग्रन्थ के अनेक उदाहरण दिये हैं, यह कोश आज संभवतः अनुपलब्ध है, यदि इस वृत्ति को संस्कृत गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी, इसके वाक्य कादंबरी और गद्य चिंतामणि का स्मृति कराते हैं, इतना होते हुस भी ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं, गूजरात के इतिहास की साधनसामग्री इसमें विस्तृत रूपेण उपलब्ध होती है, अणहिलपुरपत्तन का वर्णन इसमें खूब विस्तृत और मनोरंजनात्मक ढ़ंग से दिया है, नाटक के १० लक्षणों से तुलना कर कविने अपनी विद्वत्ता का सुपरिचय दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को अनेक विषयों पर लिखना सहज है या एक ही विद्वान अनेक विषयों पर लिखना सहज है या एक ही विद्वान अनेक विषयों पर लिख सक्ता है या आत्मविचार प्रदर्शित कर सक्ता है, पर एक ही विषय विस्तृत विवेचनात्मक दृष्टि से लिखना अत्यन्त कठीन कार्य है, ऐसे कठीनतम कार्य में श्रीसुमतिगणिने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है, यह उनके अध्यवसाय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, इनकी यह वृत्ति एक भाष्य को सुशोभित करे ऐसी मननात्मक टीका है, जहां पर जिस विषय पर उल्लेख आया वहीं पर प्रणेताने उस विषय को अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से बड़ी ही योग्यता व अकाट्य युक्तियों से समार्थित किया है, कही २ जैनागमों चूर्णियों के

मूल अवतरण कहीं साहित्य, के, व्याकरण के, व्योरा के अनेक धर्मावलंबीयों के उल्लेख उद्धृत कर बहुमुखी प्रतिभा का परिचय कराया है, संक्षिप्तमें कहा जाय तो विषय अत्यल्पही क्यों न हो पर यदि योग्य समालोचक व विवेचक विचार करने बैठे तो कितने सुंदर व आकर्षक ढंगसे विचार कर सकता है इसका उदाहरण प्रस्तुत वृत्ति है इस महत्वपूर्ण वृत्ति के प्रकाशनार्थ मेरे पूज्य गुरुवर्य्य श्री १००८ श्री श्री श्री उपाध्याय मुनिसुखसागरजी म. प्रयत्नशील है पुरातन ८–१० हस्तलिखित प्रतियों परसे प्रेस कापी तैयार करा ली गई है।

लघुवृत्ति—

प्रस्तुत वृत्ति उपरोक्त वृत्ति का ही अति संक्षिप्तरूप मात्र है, इसमें रचयिता ने अपनी ओर से कुछ नूतन ज्ञातव्य पर प्रकाश नहीं डाला। वृत्ति निर्माता श्रीजिनेश्वरसूरिजी [श्रीजनपतिआर्यसूरि शिष्य] के शिष्य हैं, और इन्होंने ज प्रबुद्ध समृद्धि गणिन्नी की अभ्यर्थना से ही प्रस्तुत संक्षिप्त रूप निर्मित किया, पंडित पद्मकीर्तिगणिने इसका संशोधन किया। स्मरण रखना चाहिये श्रीजिनपतिसूरिजी स्वयं और उनका सारा समुदाय विद्वत्ता के लिये सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध था, सूरिजी पृथ्वीराज चौहाण की सभामें शास्त्रार्थ में विजयी हुवे सूरप्रभने, स्तंभतीर्थ में वादि दिगम्बर यमदंड को पराजित किया, संक्षिप्त कहा जाय तो आपके ऐसे बहुत

१ इतिश्री युगप्रवरगम श्री**जिनदत्तसूरि** विरचितस्य गणधरसार्द्धशतकस्य प्रकरणस्य पंडित सुमतिगणिकृत विवरणानुसारतः संक्षिप्त रूचिसत्वानुग्रहाय श्रीजिनेश्वरसूरिशिष्येण वाचकसर्वराजगणिना प्रबुद्धसमृद्धिगणिन्यभ्यर्थनया संक्षेपेण विवरणमिदं कृतं पंडितपद्मकीर्तिगणिना शोधित प्रबुद्ध समृद्धि गणिन्यभ्यर्थनया।

" सर्वराजीयवृत्ति " प्रशस्ति।

अल्प शिष्य होंगे जिनके रचित ग्रन्थ उपलब्ध न होते हों।

गणधरसार्द्धशतकान्तर्गत प्रकरण।

उपरोक्त वृत्ति खास कर इसी लिये निर्म्माण की गई होंगी कि संक्षिप्तरूप में खरतरगच्छीय मुनियों को अपने पूर्वजों का ज्ञान हो क्योंकि सब मुनि इतने विद्वान न होते थे जो बृहद्वृत्ति का अध्ययन कर सके, इसमें आचार्य वर्द्धमानसूरिजी से आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी तक का विवरण उद्धृत किया है, वह भी अति संक्षिप्त रूप से, इस वृत्ति के संक्षिप्त रूप प्रदायक मुनिश्री चरित्रसिंह थे जो उस समय के उत्तम श्रेणि के ग्रन्थकार थे। आपके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध है जो आपकी प्रतिभा के परिचायक हैं।

चतुःशरण प्रकीर्णका, सन्धि गा. ६९ (संवत १६३९ जैसलमेर) सम्यक्त्वविचारस्तवमाला० [१६३३ झर्झरपुर] कातंत्रविप्रभावचूर्णि [सं. १६३५ धवलकपुर] मुनि मालिक [१६३६ रिणी में] रूपकमालावृत्ति, शाश्वत चैत्य स्त० गा. २० खरतरगच्छ गुर्वावलि गा. २० आल्या बहूत्वस्तव. आदि आदि।

उपरोक्त प्रकरण हमारी [जिनदत्त सूरि] ग्रन्थमालासे पूर्वप्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत वृत्ति—

इस वृत्ति का उल्लेख अन्यत्र कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः यह सर्वप्रथम श्रीजिनदत्तसूरि पुस्तकोद्धार फंडद्वारा साहित्यविलासी भाई बहिनों के करकमलों कें समर्पित करने का मुझे जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह मेरे लिये अतीव आनंद का विषय है। इसके प्रणेता श्रीसागरचंदसूरि–देवतिलकोपाध्याय के शिष्य मुनिश्री पद्ममंदिर हैं, इन्होंने वि० सं. १६७६ पौष शुक्ला ७

को इस महत्त्वपूर्ण वृत्ति का निर्माण किया. जैसा कि अंतिम प्रशस्ति से सूचित होता है। उपरोक्त वृत्ति यद्यपि वृहद्वृत्ति का रूपान्तर मात्र है, तथापि इसमें मौलिकता का आनंदानुभव होता हैं। प्रणेता ने प्रसंगानुसार अपनी प्रासादिकता का परिचय बडी ही उत्तम रीति से दिया है, इतने १२००० हजार ग्रन्थ कों अति संक्षिप्त कर [२३६९ श्लोक में] प्रवाह को तथाविधि सुरक्षित रखना कोई साधारण कार्य नहीं, पर एक महान कठिन और अध्यवसायी विद्वान ही पूर्णकर सकता है। हर्ष की बात है कि मुनिजी सागर को गागर में भरने के कठीन कार्य में सफल हुए। हमने इस वृत्ति का अध्ययन किया, तब विदित हुआ कि सच्चमुच में प्रणेता की प्रतिभा अद्वितीय थी। इतिहास विषयक प्रस्तुत टीका में बहुसंख्यक ऐसे उल्लेख हैं. जो जैन इतिहास में बडा महत्त्व रखते है, और कई ऐसे कवि हैं. जिनके सुभाषितों का संग्रह किया गया हैं परंतु उनकी ग्रन्थादि साहित्यिक सम्पत्ति अद्यावधि अनुपलब्ध है, मालूम होता है काल की गति में विलीन हो गयी होंगी। पृ० ६७ में "**मोक्षराज**" नामक कवि का एक पद्य उद्धृत किया गया है, पर जांच पड़ताल करने पर विदित हुआ कि इस कवि का उल्लेख अन्य कहीं पर नहीं हुआ। इनके जन्म-कार्य, अध्ययन, साहित्य-प्रगति आदि ऐतिहासिक बातें जानने के साधन नहीं, काव्याभ्यासी प्रेमियों से निवेदन करेंगें कि वे इस विषय पर खोजकर नूतन प्रकाश डालें, हम भी इस विषय में प्रयत्नशील हैं। सर्वदेव गणि-जो मूल ग्रन्थकार के पाठक थे—के विषय में प्रस्तुत वृत्ति में कहा गया है कि, "आपका स्तूप **स्तंभतीर्थ** निकटवर्ति "**शाखीय ग्राम**" में अवस्थित है, जिसे मिथ्यादृष्टि भी बड़े आदर से पूजते हैं. अभी विद्यमान है" (पृ. ३८) इससे विदित होता है कि सर्वदेव गणि का स्वर्गवास वहां पर हुआ होगा। परन्तु वह स्तूप वर्त्तमान में वहां पर है या नहीं? यदि हैं. तो किस अवस्था में? और वह नगर अभी किस हालत में है

विदित नहीं, पर निकटवर्ति भाइयों को चाहिये कि वे इस विषय पर खोज कर प्रकाश में लावें।

जैन साहित्य में प्रतिष्ठा विषयक विधानात्मक कई ग्रन्थ पाये जाते हैं, पर प्रस्तुतः वृत्ति में १ नवीन प्रतिष्ठाकल्प का उल्लेख आया है. जिसके रचयिता आर्य समुद्राचार्य हैं। (पृ. ५६)

प्रस्तुतः पुस्तक के पृ. ५८ में जो नेत्रांजन विधान उल्लिखित है. उसे कई अनुभवी चिकित्सकोंने महत्वपूर्ण नेत्र गुणकारक बतलाया है।

वृत्ति निर्माता:—

श्री **पद्ममंदिर** श्री **देवतिलक** उपाध्याय के शिष्य थे, जैसा कि अंतिम उल्लेख से विदित होता है। उपाध्यायजी ने ८ वर्ष की वय में सं. १५४१ में दीक्षा अंगीकार की, अतः इनका जन्म १५३३ में हुआ होगा। जैनादि सिद्धान्तों का अध्ययन कर वि. सं. १५६२ में ये उपाध्याय पद से विभूषित हुए। इनके द्वारा रचित कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। मात्र इनकी लिखित २ प्रशस्तियें बाबू **पूर्णचंदजी** नाहर के लेख संग्रह में [**जैन लेख संग्रह** भा. ३ पृ० ३५–४०] उपलब्ध होती हैं. जो **जिन माणिक्यचंद्रसूरि** के राज्यमें लिखी गई थीं। आपका देहावसान वि. सं. १६०२ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को **जैसलमेर** में अनशन आराधनापूर्वक हुआ, अग्निदाह के स्थान पर स्तूप बनवाकर आपके चरणकमलों की स्थापना हुई। आपका शिष्य परिवार विद्वान था। श्री **पद्ममंदिर** का जन्मादि ऐतिहासिक परिचय अनुपलब्ध है " **प्रवचनसारोद्धार बालावबोध** (सं. १६५१) और श्री देवतिलक उपाध्याय के गीत और प्रस्तुत वृत्ति ये ही आपकी कृतियें अभी तक उपलब्ध हुई है, जो आचार्य

श्री जिनचंद्रसूरिजी के समय में निर्माण हुई हैं।

प्रस्तुतः प्रकाशनः—

प्रस्तुतः वृत्ति आजतक अंधकार में थी. किसीको पता नही था कि. यह श्री पद्ममंदिर ने भी गणधरसार्धशतक पर वृत्ति लिखी है. पर हमारे परम पूज्य गुरुदेव **श्री १००८ मुनि उपाध्याय सुखसागरजी महाराज** वृहद्वृति की हस्तलिखित पुरातन प्रतियों की खोज में थे, चारों ओर से अनेक पुरातन प्रतियें प्राप्त कीं, और सुंदर प्रेस कापी बनाई, इसी प्रेसकापिका से अन्य हस्तलिखित प्रतियों द्वारा संशोधन किया, जिसमें जैपुर ज्ञानभंडार से प्राप्त इस लघुवृत्ति से अवलोकन के पूर्व वृहद्वृत्ति, समझी गयी थी, पर देखने से वह सर्वथा नूतन कृति मालूम हुई, इसे देखने से मालूम हुआ कि यह संभवतः ग्रन्थप्रणेता के समय में ही लिखि गई है. क्यों कि, स्थान स्थान पर नूतन वाक्य, कहीं कहीं तो कई पंक्तियें नूतन उल्लिखित है, क्या ही अच्छा होता यदि इसमें लेखनकाल भी निर्दिष्ट होता, प्रति लेखनशैली को देखते हुए यह १७ वीं शताब्दी की अवश्य होनी चाहिये।

ग्रन्थान्तर्गत महापुरुषों का ऐतिहासिक परिचयः—

हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्रस्तुतः ग्रन्थ यद्यपि धार्मिकवृत्ति पोषणार्थ लिखा गया है, तथापि इसमें ऐतिहासिक तत्त्व काफी रूप से उपलब्ध होता है, जिसके परिचय कराने का लोभ संवरण नही किया जा सकता। आशा है कि पुरातत्त्वान्वेषी भाइ बहनों को पथप्रदर्शक सिद्ध होगा। सर्वप्रथम मूल ग्रन्थकार महाराजा युगादिदेवादि २४ तीर्थंकरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण कर अत्यन्त भक्ति के साथ नमस्कार करते है, पुंडरीक गणधर का भी उल्लेख है।

श्रमण भगवान महावीरः—

मानवसंसार का शायद ही कोई ऐसा पुरातत्वज्ञ होगा जिसे परोपकारी भगवान महावीरस्वामी के परिचय देने की आवश्यकता हो। विश्व का कोई दार्शनिक ऐसा न होगा जो भगवान के दिव्य सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हो। आपका उपदेश मानव मात्र के लिये था, आप के अमूल्य सिद्धान्त विश्व को मानवता का पाठ पढ़ाते हैं, हमारा विश्वास है कि यदि श्रमण भगवान महावीर के समस्त उपदेशामृतों का पूर्ण रुपसे प्रचार किया जाय तो, जैन धर्म संसार–विश्व धर्म हो सकता है, क्योंकि इस में वैज्ञानिकता भरी हुई है। भगवान् कथित बातें आज हमको साक्षात् देखने को मिलती है। संक्षिप्त में कहेंगे कि–संसार के समस्त वैज्ञानिकों ने ऐसी कोई नूतन खोज नहीं की जो प्रभु महावीर के कथनों में न हो, अर्थात् आज के विज्ञान ने मात्र इतना ही कार्य किया है कि पूर्व लिखित संगोपित बातों को क्रियात्मक रूप दिया। प्रभु महावीर ऐतिहासिक व्यक्ति थे। आपका जन्म ईस्वीसन पूर्व ५९९ चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को क्षत्रियकुंड ग्राम निवासी महाराजा सिद्धार्थ की सुशीला धर्मपत्नी त्रिशलादेवी की रत्नकुक्षी से हुआ था। वह युग भारत के लिये सुवर्ण का था। आपके जन्म से ब्राह्मण समाज द्वारा जो यज्ञादि क्रियाओं में मूक पशु जो सहस्रों की संख्या में मौत के घाट उतारे जाते थे, उन्हें अभयदान मिला, समस्त संसारने अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव किया।

आपने तीस वर्ष के बाद मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को राजवैभवों का सर्वथा परित्याग कर दीक्षा ली, अब आप निर्ग्रन्थ हुए, तदनंतर आपने अनेकों ऐसे २ महान भीषण उपसर्ग सहे, जिन्हें श्रवणकर वज्र का हृदय भी पानी हुए बिना न रहेगा। क्रमशः तपश्चर्या कर

केवळज्ञान प्राप्त कर सर्व ७२ वर्ष का आयु पूर्ण कर इस्वीसन् पूर्व ५२६ कार्तिक कृष्णा अमावस्या को अपापापुरी–पावापुरी में मोक्ष गये।

आप जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं प्रत्युत प्रचारक थे। कई लोग प्रवर्तक मानते है। पं. जवाहरलाल[3] नहेरु जैसे विचारक भी इसी भ्रांति में हैं।

गौतमादि गणधरः—

भगवान महावीर के एकादश गणधरों में गौतमस्वामी सबसे बड़े थे, सर्वानुसार ये भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इ. स. पूर्व ५२६ में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और इ. स. ५१४ में वैभारगिरि पर्वत पर मोक्ष गये।

सुधर्मास्वामीः—

पांचसो विप्र पुत्रों के पाठक थे। भगवान के पास इन्होंने ५०० शिष्यों–छात्रों सहित ५० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की और इ. स. पूर्व ५०६ में वैभारगिरि पर्वत पर मोक्ष गये।

जम्बूस्वामीः—

आपका जन्म राजग्रही नगरी में ऋषभदत्त ब्राह्मण की धर्मपत्नी धारिणी देवी की रत्नकुक्षी से हुआ, आपने पंचशत चौर ८

३. हिन्दुस्तन में बुद्ध और महावीर हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन धर्म चलाया, इनका असली नाम वर्द्धमान था।
विश्व इतिहास की झलक पृ० ५८

४ कल्पसूत्र–कल्पलत्ता वृत्ति मे इन्हे वणिक बताया गया है.
पुनः जम्बू कुमारो वणिक् जातित्वात् महालोभी यतो मुक्तिनगेर प्रविश्य......पृ० २१८

कन्याएं, उनके मातापिता आदि के साथ १६ वर्ष की लघु अवस्था में सुधर्मास्वामी के पार्श्व दीक्षा अंगीकार की। इस्वी पूर्व ४६२ में आप मोक्ष गये। पञ्चमकाल के आप अंतिम मोक्षगामी है। आप के निर्वाण बाद ये दश वस्तुएं विच्छेद हुई—मनःपर्यवज्ञान, परमावधिज्ञान पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणि, जिनकल्पि मार्ग, परिहारविशुद्धि चरित्र, सूक्ष्मसंपराय चरित्र, यथाख्यात चरित्र, ये तीन संयम, केवलज्ञान, मोक्षगमन।

बृहद्वृत्ति में इनका जीवन अत्यन्त विस्तृत रूप से मनोरंजनात्मक ढंग से दिया हुआ है।

प्रभवस्वामीः—

वे कात्यायन गोत्रीय राजा जयसेन के वहां जन्में थे। पिताने राज्य लघु बंधु को दे दिया, यह व्यवहार आप पर गजब का असर कर गया। आपने तत्काल राज्य का त्याग कर विदेश परिभ्रमणार्थ निकल गये, और ४९९ चौरों के स्वामी हुए, उपरोक्त जम्बूकुमार के वहां पर आप चोरी करने गये थे, पर अंततः आप का दिल जंबूकुमार ने चुरा लिया, और खुद के साथ दीक्षा अंगीकार करवाई। क्रमशः गणाधिपति हुए। आप ८६ वर्षका सम्पूर्ण आयु पालकर इ० स० पू० ४५१ वर्षे स्वर्ग गये, आपने उपयोग दिया कि संघ में ऐसा कौन प्रतिभासंपन्न व्यक्ति है, जिसे मैं आत्मपद पर अधिष्ठित करु? अंततः विदित हुआ कि शय्यंभव भट्ट को ही उत्तरदायित्व पूर्ण पदप्रदान किया जाय, वे भट्टजी उस समय यज्ञ करा रहे थे, वहां पर जैन मुनियों को भेजकर प्रतिबोध दे मुनि दीक्षा अंगीकार करवाई।

॥ ९ ॥

शय्यम्भवसूरिः—

आप के माता पिता के नाम अप्राप्य है। आप यजुर्वेदीय; वक्षस, गोत्रीय थे, जब आपने दीक्षा अंगीकार की थी, तब आपकी अर्द्धांगिनी गर्भवती थी। क्रमशः पुत्र उत्पन्न हुआ, मनक नाम दिया। मनक ने जन्मते ही सुना कि मेरे पिताने श्वेतांबर दीक्षा ग्रहण की है। क्रमशः मनक ने भी आकर दीक्षा ग्रहण की, परंतु आचार्यश्रीने अपना पिता पुत्र का संबंध किसी से ज्ञापित न किया, क्योंकि ऐसा करने से अन्य मुनि इनसे सेवा न लेंगे। बिना सेवा वैयावृत्य किये भवसमुद्र से निस्तार कैसे होगा? यह लघु शिष्य का अल्पायु जान कर गुरुजीने इनके लिये सिद्धान्त से मुन्योचित धर्म प्रतिपादनात्मक विषय उद्धृत कर "दशवैकालिक" सूत्र की रचना कर पुत्र को पढ़ाया। छह मास के बाद बाळक स्वर्ग गया, तदनंतर सूरिजी उक्त नूतन सूत्र पुनः सिद्धान्त में सम्मिलित करने लगे, पर श्री संघ के रोकने पर शामिल न किया। शय्यंभव सूरिजी सर्व ६२ वर्ष का आयु पाल इ० पूर्व ४२८ में स्वर्ग गये।

यशोभद्रसूरिः—

इनका विस्तृत परिचय अलभ्य है। उपरोक्त उल्लेखों में आपने देखा एक आचार्य के पद पर एक ही आचार्य आते थे, पर इनके बाद एक पद पर दो आचार्य अधिष्ठित पाये गये। कई स्थान में दोनो को भिन्न २ गिन संख्या में वृद्धि की हैं। आप सर्व ८६ वर्ष का आयु पाल ३७८ इ० पूर्व स्वर्गवासी हुए।

संभूतिविजय और भद्रबाहुसूरिः—

संभूतिविजयसूरिजी का परिचय अप्राप्य है। आप ९० वर्ष की अवस्था में ३७० इ० पू० में स्वर्गवासी हुए।

भद्रबाहुस्वामी का स्थान जैन इतिहास में अत्यन्त पूज्यनीय व महोच्च माना जाता है, भारतीय राजनैतिक इतिहास में भी ये अनुपेक्षणीय नही । आप का सम्पर्क चन्द्रगुप्त मौर्य से बतलाया जाता है, जिस पर आगे विचार किया जायगा ।

आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर (पैठण) ब्राह्मण जाति प्राचीन गोत्र में हुआ था । कहा जाता है कि इनका वराहमिहिर नामक कनिष्ठ बंधु भी था, इन दोनों ने उपरोक्त यशोभद्रसूरिजी के पास दीक्षा अंगीकार की थी । लघु बंधु का स्वाभाव अत्युग्र था । अतः आचार्य पद उनको न दे कर भद्रबाहुस्वामी को प्रदान किया, इससे उनका क्रोध यहां तक बढ़ा कि उसने जैन धर्म का त्याग कर राज्याश्रय लिया, क्रमशः मृत्यु पाकर जैन संघ पर विविध उपद्रव करने लगा, जिनकी उपशांति के लिये भद्रबाहुस्वामी ने उपसर्ग्गहर स्तोत्र की रचना कर श्रावकों को दिया, जिसके पठन मात्र से उपद्रव शांत हो गया ।

आपने अध्यात्मविद्या में (प्राणायाम में) महान् उन्नति की थी, तदर्थ आपने नैपाल देश को उपयुक्त चुना था । वहां पर जब ध्यान में मग्न थे तब भी आपने अपना अमूल्य समय देकर गुरु बंधु शिष्य श्री स्थूलिभद्रादि ५०० मुनियों को वांचना दी थी ।

आप १४ पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, चंद्रगुप्त मौर्य सम्राटने भद्रबाहु के पास जैनमुनि दीक्षा अंगीकार करने के विषय में कुछ उल्लेख दिग० जैन साहित्य में दृष्टिगोचर होते है । इन में कितनी सत्यता है निम्न प्रमाणों से स्पष्ट हो जायगा—

इस में कोई शक नहीं कि चंद्रगुप्त जैन धर्मानुयायी था, परंतु इसने जैन दीक्षा अंगीकार कर श्रवणबेल्गुला में अनशन स्वर्गवास प्राप्त किया, यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है, दिगं० ग्रन्थो में ऐतद्विषयक विसंवाद पाया जाता है ।

भद्रबाहु को आचार्यपद इस्वी० पूर्व ३९४–९५ तक माना आता है, जब मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासनकाल इस्वी

पूर्व ३२२–२९८ तक का निश्चित किया गया है। इन दोनों के मध्य में ६७ वर्ष का मेहदंतर हैं, इसी से सिद्ध हो जाता है कि दीक्षा विषय कपोलकल्पित है, दिगंबर साहित्य स्वयं इसकी पुष्टि करता है।

चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य **भद्रबाहुस्वामि** का देहावसान इ० पूर्व ३५६ में हुआ। इस में कोई सन्देह नहीं कि भद्रबाहु स्वामी उद्भट तत्त्ववेत्ता थे, उनके द्वारा विनिर्मित साहित्य जैन साहित्य को महान् गोरव प्रदान करता है। जैनागम साहित्य को परमालंकृत करनेवाली निर्युक्तियें देख विद्वज्जन आनंद के सागर में हिलोरे मारने लगते हैं। आप ही एक ऐसे महान् जैनाचार्य है जिन्हें श्वे. दि. दोनो सम्प्रदायवाले बडे आदर के साथ मानते हैं, संप्रदाय द्वय द्वारा कुछ हेरफेरके साथ निर्मित आप का जीवन भी उपलब्ध होता है।

अब यहां पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, भद्रबाहु नामक जैन समाज में कितने आचार्य हुए? क्यों कि पुरातन जैन साहित्य में तो दो होने के उल्लेख कही पर भी दृष्टिगोचर नहीं हुए। पूर्वकालीन ग्रन्थकार भी पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी को एक व्यक्ति मानकर नमस्कार करते है, परंतु इतिहास में ऐसे अनेक उल्लेख दृष्टिगोचर हो चुके है, जिनका सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने से विदित होता है कि, एक ही नाम के दो आचार्य जैन धर्म में हुए हैं। एक तो उपरोक्त चतुर्दश पूर्वधर और दूसरे निर्युक्तिकार जो वराहमिहिर के बंधु थे। यदि प्रथम भद्रबाहु निर्युक्ति के रचयिता होते तो कलिकालसर्वज्ञ हेमचंदसूरि उनका उल्लेख अपने

---

५ स्थानाभाव से यहां पर विस्तृत विवेचन न कर जिज्ञासु पाठकों को निवेदन करेंगें कि श्री जैन सत्यप्रकाश का ३७–३८ क्रमांक देखें पृ० ५५–६, ११०–१६.

ग्रन्थो में बडे आदर के साथ करते, पर वे इस विषय में मौन हैं ।

वराहमिहिर भद्रबाहुस्वामी के बंधु थे, जैसा कि उपरोक्त लेखों से सुस्पष्ट है, यही हमें इस ओर संकेत करता है कि द्वितीय भद्रबाहु नामक कोई व्यक्ति जैन समाज में हुई है, जिन्होने निर्युक्तियें रचीं, पर वे किनके शिष्य थे, कहना असंभव है ।

मुनि श्री चतुरविजयजी और मुनि श्री पुण्यविजयजीने अपने निबंधो में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा ऐसी अकाट्य युक्तियें दी है, जिनसे साफ साफ विदित हो जाता है कि, पञ्चम श्रुतकेवली और नियुक्तिकार भद्रबाहुस्वामी दो प्रथक् पृथक् आचार्य भिन्न २ समय में हुए हैं ।

संघतिलक सूरिजी सम्यक्त्वसप्ततिका श्री जिनप्रभकृत उपसग्गहर स्तोत्रवृत्ति, प्रबंधचिंतामणि आदि श्वेतांबरीय मान्य ग्रन्थ भद्रबाहुस्वामी को प्रखर ज्योतिषी वराहमिहिर के बंधु गिनाते हैं ।

वराह मिहिर के चार ग्रन्थ आज तक उपलब्ध हुए है जो अपने ढंग के बडे उत्तम है जो इस प्रकार हैः—

बृहत् संहिता (१८६४–६२ Bibiothica Indica में प्रो० कर्न ने प्रसिद्ध की ही भाषांतर Journal of Asiatic Society में प्रकट हुआ है)

---

६. आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ गु० वि० पृ० २०–२६.

७. महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ पृ० १८५–२०१

८. तत्थ य. चउदस विज्जा ठाण पारगो छकम्मम्म पयईए
मइओ भद्रबाहुनाम माहणो हुत्था तस्स य परम पिम्म सरसिरुहमिहरो वराहमिहरो सहोयरो

हौरा शास्त्र (जिसका अनुवाद मद्रास के. सी. आयरने १८८५ में किया)

लघु जातक (जिसके कुछ भाग का अनुवाद प्रो० वेवर और डॉ. याकोबी ने १८७२ में किया है।

पंञ्च सिद्धान्तिका बनारसवाले महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदी तथा थीबो ने इसे १८८९ में प्रकट किया है और बहुत से हिस्से का अनुवाद भी किया है।

वराहमिहिर का जन्म शक ४१२ (वि. ५५९) और मृत्यु समय ५०९ (वि० सं० ६४४) में माना जाता हैं। भद्रबाहु स्वामी को भी ज्योतिष का उच्च ज्ञान था। आप के द्वारा रचित निम्न ग्रन्थ हैं—आचारांग निर्युक्ति, सूत्रकृतांग नि०, दशवैकालिक नि०, उत्तराध्ययन नि०, आवश्यक नि०, सूर्यप्रज्ञप्ति, ऋषिभाषित निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति संसक्त नि०

मूल ग्रन्थ ये है

बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुंतस्कन्ध[10], भद्रबाहुसंहिता[11], गृहशांति स्तोत्र, द्वादशभाव जन्म प्रदीप, वसुदेव हिन्डी[12]। इनके उपरोक्त समग्र ग्रन्थो में जन्मदीक्षादि कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं।

---

९ सप्ताश्विवेद संख्यं, शक काल मयास्य चैत्रशुक्लादौ; अर्धास्तिमिते मानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये,

१० वर्तमान में पर्युषणा पर्व में जो कल्पसूत्र वाचन होता है वह प्रस्तुतः सूत्र का आठवां अध्ययन बतलाया जाता है।

११ प्रकाशित संहिता से ये भिन्न है।

१२ वंदामि भद्रबाहु जेणय अकर, सिध बहुकहा कलियं रकयं सवा लक्खं चरित्रं वसदेवरायस्स "शांतिनाथचरित्रं" मंगलाचार॰

स्थूलीभद्रः—

पाटलीपुत्र पटना के ब्राह्मण जातीय गौतमगोत्रीय शकडाल उस समय नंद राजा के प्रधान मंत्री थे। स्थूलीभद्रने १२ वर्ष कोशा वेश्या के घरं व्यतीत किये थे। पिताजी राज्यकार्य देखते थे. पर किसी कारण से पिता की मृत्यु हो जाने से इन्हें राज्य कार्य-भार लेने को प्रोत्साहित किया, पर आपको राज्य के षड्यंत्र से कतई प्रेम न था, अतः आपके लघु बंधु पितृस्थान पर नियुक्त किये और अपने मुनि दीक्षा अंगीकार की। पूर्व परिचिता कोशा के वहां चित्रशाला में चतुर्मास रहे। वेश्या पूर्व विगत बातों की स्मृति दिलाकर अनेक ऐसे हावभाव दिखाने लगी जिससे वे पूर्ववत होकर रहें, पर वह महान् आत्मा को उन कामोत्तेजक वैभवों का लेश मात्र भी असर नहीं हुआ। प्रत्युतः उसी को प्रबोध देकर जैन धर्मानुयायिनी बनाई। आपके अस्तित्व समय में विश्वविख्यात **कौटिल्य अर्थशास्त्र** निर्माता चाणक्य ने नवनंद का नाश कर मौर्य साम्राज्य प्रस्थापित कर चंद्रगुप्त का राज्यभिषेक किया। इ० पू० ३११ में स्थूलीभद्र का स्वर्गवास हुआ।

आर्य महागिरि, आर्य सुहस्तिः—

प्रथम का परिचय अत्यल्प ऊपलब्ध हैं। आप जिन कल्प की तुलना करते थे। इ० पूर्व २८१ में आप स्वर्गासीन हुए, आर्य सुहस्तिका अत्यन्त अल्प वृतांत उपलब्ध है, बाल्यावस्था में आप १ जैन श्रमणिका द्वारा पालित रक्षित थे। आपने महाराजा संम्प्रति मौर्य को प्रतिबोध देकर जैन धर्मानुयायी किया, और जैन धर्म के प्रचारार्थ अनेक प्रयत्न किये। भारत से बाहर भी प्रचार किया। यूनान में आज भी एक ऐसी जाति है. जो अपने को समनिया श्रमणिया कहती हैं। उनका आचरण बिल्कुल जैन

धर्मानुसार है। ये लोग अभक्ष्य भक्षण अपेय पान कदापि किसी अवस्था में नहीं करते। हो सकता है सम्प्रति द्वारा प्रचारित जैन धर्मके वे ही जैन अवशेष हों, इस विषय पर हम विस्तृत अध्ययन कर रहे हैं। इस्वी पूर्व २३५ में सुहस्तिसूरि[१३] का स्वर्गवास हुआ। आप ही अपने बृहत्गुरु बन्धु के समय में गच्छाधिपति थे। इस समय बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएं घटीं. जिनका संबंध जैन धर्म से है पर उन्हें व्यक्त करने का यह स्थान नहीं।

आर्य समुद्र मंगु सुधर्मा:—

नंदी गुर्वावली से विदित होता है कि आर्य मंगु आर्य समुद्र के शिष्य थे। इनका उल्लेख विविध तीर्थकल्प में मिलता है[१४]। इन तीनों का विस्तृत परिचय अन्यत्र अनुपलब्ध है। बृहत् वृत्तिकार ने "एतेसां त्रयाणामपि चरित्रं विशिष्टं क्वापि न दृष्टं" साफ लिखा है।

भद्रगुप्त:—

इनके विस्तृत परिचय के लिये बृहद्वृत्तिकार मौन है, आपने वज्रस्वामी को ११ अंग की वाचना उज्जयिनी में दी थी। [१५]संभवत: इ० स० ७ में इनका देहान्त हुआ।

१३. तौ हि यक्षार्थया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ, इत्यार्योपपदौ जातौ, महागिरिसुहस्तिनौ ॥ पर्व १०, श्लो० ३७।

१४. इत्थ **अज्ज मंगु** सुअसागरपारगो इड्ढिरससायगारवेहि जक्खवत्तमुवागम्म, जीहापसारणेण साहूणं अप्पमायकरणत्थं पडिबोहमकासी।
वि० ती० क० पृ. १९।

१५. ततो वज्रस्वामीना दशपुरात् उज्जयिन्यां गत्वा गुर्वाज्ञयया श्रीभद्रगुप्ताचार्यसमीपे दशपूर्वाणि अधितानि ॥ **कल्पसूत्रकल्पलता** पृ० २२६।

वज्रस्वामीः—

इनका वृत्तांत वृहद्वृत्ति एवं परिशिष्ट पर्व में अत्यन्त विस्तृत रूपेणोपलब्ध होता। आप वैश्य जातीय धनगिरिपत्नी सुनंदा के पुत्र थे। आपने जगन्नाथपुरी के बौद्ध राजा को प्रतिबोधित कर जैन बनाया। राजा का नाम ज्ञात नहीं। आप कई विद्याओं के धारक प्रभावक आचार्य, तथा दश पूर्वधर थे। आपकी जीवन घटना से विदित होता है कि उस समय चैत्यवासियों का प्राबल्य था। इ० स० ५८ में आपको देहोत्सर्ग हुआ।

आर्यरक्षितः—

ये मालवदेशीय दशपुर–मन्दसौर के निवासी थे। आप जाति से विप्र, धर्म से जैन थे। आपने पाटलीपुत्र–पटना में १४ विद्याओं[16] का अध्ययन किया था। उपरोक्त भद्रगुप्ताचार्य पास आपने जैन साहित्य के चार अनुयोग प्रथक् प्रथक् किये।

उमास्वाति वाचकः—

ये आर्यमहागिरि के शिष्य बलिस्सह के शिष्य थे[17]। इसे दि० उमास्वामी कहते है[18]। जैन साहित्य में इनका स्थान अत्यन्त

---

१६. अङ्गानि ६ चत्वारो वेदा ४, मीमांसा–११ न्यायविस्तरः, ७२ पुराणं १३ धर्मशास्त्र १४ च, विद्या एतश्चतुर्दशः ॥ १ ॥

१७. आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुलबलिस्सहौ यमलभ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सम्भाव्यन्ते धर्मसागरीय पट्टावली।

१८. यह नाम उपयुक्त नही मालूम होताः—इनके मातापिता का नाम उमा, स्वाति, क्रमशः था। अतः इन्होंने मातापिताकी स्मृतिरूप में भी यदि नाम रखा हो तो भी उमास्वाति ही अधिकः युक्तिसगत मालूम होता है–जैसे कि वप्पभट्टीसूरि।

पवित्र व उच्च है। आप ही एक ऐसे जैन मुनि है कि साहित्यिक रचना में संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम उपयोग किया, वह भी सफलतापूर्वक। जैन दर्शन का निचोड़ आपने तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों में भर दिया हैं। ये ग्रन्थ पाटलीपुत्र–पटना में निर्माण किया। इनकी यह कृति श्वेतांबर दिगंबर उभय सम्प्रदायवाले बहूत आदर के साथ मानते हैं. और अध्ययन करते है। आचार्य हेमचंद्रसूरि आपको संग्रहकार मानते है[१९]।

प्रशमरति प्रकरण, श्रावक प्रज्ञप्ति, पूजा प्रकरण, प्रतिष्ठाकल्प (प्रकृत वृति पृ० ५६) आदि ग्रन्थ आप के विनिर्मित हैं, जो जैन साहित्य को गौरव प्रदान करते है। कहा जाता है आपने पंञ्चशत प्रकरणात्मक ग्रन्थों की रचना की थी[२०]।

आपका विस्तृत परिचय सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीसुखलालजी ने नूतन प्रकाशित हिन्दी तत्त्वार्थ सूत्र में दिया है जो अत्यन्त उपयोगी और मनन योग्य हैं।

हरिभद्रसूरिः—

ऐसा कौन भारतीय साहित्यान्वेषी होगा जो आचार्यवर्य्य श्रीमान हरिभद्रसूरि जैसे अद्वितीय प्रतिभासंपन्न जैनाचार्य के पुण्य नाम से अनिभिज्ञ हो। विश्व का ऐसा कौन फिलासफर होगा जिसे आचार्यश्री के दर्शनशास्त्रों का ज्ञान न हो, आप साहित्य के

---

१९. उपोमास्वाति संग्रहीतारः। सिद्धहेम २–२–३९।

२०. उमास्वाति वाचकश्च कौमिषणणिगोत्रः पञ्चशत=संस्कृत=प्रकरण प्रसिद्धस्तत्रैव तत्वार्थाधिगं सभाष्य व्यरचयत् चतुरशीतिवादशालाश्च, तत्रैव विदुषां परितोपाय पर्यंणसिषुः। विविध तीर्थकल्प पृ० ६९।

प्रत्येक अंग के धुरंधर विद्वान ही न थे पर के साथ ही साथ उत्तम कोटि के ग्रन्थ रचयिता भी थे। आप को अपनी असाधारण विद्वत्ता पर परिपूर्ण विश्वास था, अतः नियम कर लिया था कि जो मुझे पराजित करेगा उसी का मैं शिष्यत्व स्वीकृत करुंगा।

एक प्राकृत भाषा की गाथा का अर्थ आप को न आने से जैनाचार्य जिनदत्तसूरिजी[22] या श्री जिनभटसूरिजी[21] के पास जैन दीक्षा अंगीकार की।

आप के अस्तित्व समय में विद्वान् लोगों में मतैक्य नही है, कई इन्हें वि० छठवीं या सातवीं सदी और कई ९ वीं सदी में होने का मानते हैं, तत्त्वं तु केवली गम्यं। संसार के इतिहास में आप का नाम स्वर्णाक्षरों से लिखा जाना चाहिये। जर्म्मन विद्वान डॉ. याकोबी आप के ग्रन्थों पर मुग्ध थे। यहां हम एक बात पर विशेष रूप से जोर देकर कहेंगे कि उक्त आचार्यश्री ने अपनी वहूसंख्यक कृतियें

२१-२२. हरिभद्रसूरिजी के गुरु कौन थे? यह भी एक प्रश्न है। कुछ समय पूर्व विद्वज्जन जिनभटसूरिजी को गुरु मानते थे, पर अब प्रमाण मिले है कि जो जिनदत्तसूरिजी को इनके गुरु मानने को प्रोत्साहित करते हैं। वे प्रमाण इस प्रकार है-आचार्य स्वयं लिखते हैं-" समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका सिताम्बराचार्य जिनभटनिगदानुसारिणी विद्याधरकुलतिलकाचार्य जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य " ये प्रशस्ति जिनदत्तसूरि गुरु प्रदर्शित करती है। आप ही ने अन्य टीकायें लिखे है॥

आचार्य जिनभटस्य हि सुसाधुजनसेवितस्य शिष्य, जिनवचन भावितमतेर्व्रत वतस्तत्प्रसादेन।किंचित् पक्षेप संस्कारद्वारेणैव कृता स्फुटा आचार्य हरिभद्रेण टीका प्रज्ञापनाश्रया ॥

इससे जिनभटसूरि गुरु मालूम होते है। संभव है दीक्षाप्रदायक जिनदत्तसूरि गुरु हों और जिनभटसूरि उनके ही आज्ञाकारी हो। निश्चिततया राय देने के साधन नही है।

संस्कृत भाषा में गुम्फित की है, कारण कि उस समय इसी भाषा का प्राबल्य था। ठीक उसी प्रकार आज कल हिन्दी–जो भारत की राष्ट्रभाषा होने जा रही हैं–का प्राबल्य है, अतः जितना प्रचार इस भाषाद्वारा हो सकेगा, उतना अन्य कोई भाषा द्वारा होना असंभव नही तो कठिन अवश्य है। मेरे बहूसंख्यक जैनेतर परिचित जैनसाहित्यानुरागी विद्वान हैं, पर हिन्दी भाषा में जैन साहित्य अनुवादित न होने से वे ऐसे महत्व के लाभ से सदा के लिये वंचित से रह जाते है। कहने का मतलब यही कि जैन साहित्य का प्रचार हिन्दी द्वारा होना चाहिये।

आचार्य शीलांकः—

आप भी स्वसमय के उद्भट विद्वान् और वृत्तिकार थे। द्वादशाङ्गपर पूर्व आपने वृतियें निर्माण करने का कहा जाता है। वि० स० ९२५ में आपने १०००० सहस्र श्लोक प्रमाण में प्राकृत भाषा में महापुरुष चरित्र की रचना की, जिस में ५४ महापुरुषों का जीवन है, जो हेमचन्द्रसूरि के त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित्र का मूळाधार है। ये आचार्य कोन थे[23]? किनके शिष्य थे? ये जानने के साधन नही। गणधरसार्ध्धशतक बृहद्वृत्ति से विदित होता है कि, वे संभवतः चैत्यवासी थे। अतः ग्रन्थकारने नमस्कार न करते हुए स्मरण मात्र ही किया है, जैसा कि बृहद्वृत्ति से सूचित होता[24] है।

२३. नन्वेष शीलाकश्चैत्यवासीत्यस्माभिः श्रुतम्। एष सद्वृत्ति विधानेन लोके प्रतिष्ठापात्र ज्ञानाधिकत्वेन प्रभावकश्च "नाणाहिओ वरतरं हीणोवि हु पवयणं प्रभाविंतो" इत्य.स वचनप्रामण्या देतस्यादि प्रशंसामात्रमुचितमवे वंदनंतु नोचितम्"। **गण० बृ० वृत्ति।**

गण० बृ० वृत्ति जव निर्माण हुई थी कर्ता और इनके गुरु जिनपतिसूरि चैत्यवासियों के खंडन के व्यस्त थे। संभव है इसी मनोवृत्ति का प्रभाव प्रकृत वृत्ति पर भी पड़ा हो।

इसके विषय में अधिक जानने के साधनों का सर्वथा अभाव है। सुमतिगणिजी स्वयं मौन है, नेमीचंद्रसूरि का भी विस्तृत परिचय अप्राप्य है।

देवाचार्यः—

इसके विषय में अधिक जानने के साधनों का सर्वथा अभाव है। सुमतिगणिजी स्वयं मौन है, नेमीचंद्रसूरि का भी विस्तृत परिचय अप्राप्य है।

उद्योतनसूरिः—

इनका ऐतहासिक परिचय अनुपलब्ध है, मात्र इतना ही ज्ञात है कि. आप का विहारक्षेत्र पूर्व देश था, सम्मेदशिखरजी की ५ वार यात्रा की थी, वहां आपने आबू का महत्व सुना और यात्रार्थ इस ओर प्रस्थान कर क्रमशः अर्बुदगिरि पधारे, शुभ मुहूर्त देखकर तत्समीपवर्ति ढेली ग्राम[२५] में ८ महानुभावों को आचार्यपद से विभूषित किये, कहीं पर इस के विपरीत उल्लेख मिलता है कि ८४ शिष्यों[२६]

२५. युगाङ्क नन्द प्रमिते ९९४ गतेऽब्दे, श्रीविक्रमार्कोत्सद संघलोकैः, पूर्वावनितो विहरन् धरायामु;—द्योतनः सूरिरथार्बुदाद्यः ॥ १८ ॥
आगत्य टेलीपुरसीतसंस्थ, पञ्च शतानाञ्च वृहद्वटाधः, शुभे मुहूर्ते स्वपदेऽष्टसूरिं, नतिष्ठिपत्तौ नगुलोदयाय ॥ १९ ॥ पट्टावलीसमुच्चय पृ. २७ ।

२६. अथ उद्योतनसूरिस्त्र्यशीति (८३) शिष्यपरिवृतो मालवकदेशात् संघेन सार्धं शत्रुंजये गत्वा ऋषभजिनेश्वर-मभिवंद्य पश्चात् वलमानो रात्रौ सिद्धवडस्याधो भागेस्थितः तत्र मध्यरात्रिसमये आकाशे शकटमध्ये वृहस्पति प्रवेशं विलोक्य एवमुक्तवान् " साम्प्रतमीदृशी वेला वर्तते यतो यस्य मस्तके हस्तः क्रियते स प्रसिद्धिमान् भवति " अथैतत् श्रुत्वा त्र्यशीत्याऽपि शिष्यैरुक्तम् " स्वामिन्! वयं भवता शिष्या स्मः यूयमस्माकं विद्यागुरवः ततो अस्मदुपरिकृपां विधाय हस्तः क्रियाताम् " ततो " गुरुभिरुक्तम् वासचूर्णमानीयताम् । तदा तैः शिष्यैः काष्टच्छगणादिचूर्णं कृत्वा गुरुभ्य आनीय दत्तं गुरुभिरपि तच्चूर्णं मन्त्रयित्वा त्र्यशितेः शिष्याणां मस्तके निक्षिप्तम् ततः प्रभाते गुरुभिः स्वस्य अल्पायुर्ज्ञात्वा तत्रैव अनशनं कृत्वा स्वर्गः गतिः प्राप्ता...एव चतुरशीति-गच्छाः संजाता । खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह पृ. २० ।

को आचार्य पदसे चौराशी गच्छों की स्थापना की, यह उल्लेख युक्ति संगत प्रतीत होता है। उद्योतनसूरि का अपर नाम दाक्षिण्याङ्क-सूरि बतलाया जा रहा है जो " कुवलयमाळा कथा " के रचयिता थे, यह कथा प्राकृत भाषा का रत्न है। रचना चम्पू से मिलती जुलती है, रचना से उच्च व काव्य चमत्कृति साफ मालूम होती है, तत्कालिक प्रान्तीय लोकभाषा का अध्ययन इस के विना अपूर्ण रहेगा। रचनाकाल सं. ८३४ (श. ६९९) [२७]है। इनका १ संवत् ९३७ का लेख भी पाया जाता [२८]है।

श्री वर्द्धमानसूरिः—

उद्योतनसूरिजी के प्रमुख शिष्य थे। आप पूर्व कूर्चपुरी ८४ चैत्यगृह के अधिपति थे, पर शास्त्रोंका वास्तविक ज्ञान होने से चैत्यवास का सर्वथा त्यागकर सुविहित मार्ग अंगीकार कर विचरण करने लगे। आपने अर्बुदाचल पर्वतोपरि कठिन तपश्चर्याकर सूरिमंत्र की शुद्धि की, और वहां पर जैन मंदिर बनवाने को गूर्जरेश्वर भीमदेव चौलुक्य के (वि० सं. ११७८–११८०) दंडनायक प्रागवाट विमलमंत्री

---

२७. सगकाले वो लीणे, वरिसाण सएहिसत्तहि गएहि, एग दिणेणूणेहि रइया अवरण्ह वेलाए।

२८. (१) ॥ ॐ ॥ नवसु शतेष्वब्दानां सप्तं (त्रि)शदधिकेश्वतीतेषु श्रीवच्छलागलीभ्यां ज्येष्ठर्याभ्यां।

(२) परम भक्त्या ॥ नाभेय जिनस्यैषा प्रतिमा–ऽषाडार्द्धमास निष्पन्नाश्रीम–

(३) तोरण कलिता मोक्षार्थं करिता ताभ्या ॥ ज्येष्ठार्थे पदं प्राप्तो द्वावपि।

(४) जिनधर्म वच्छलौ ख्यातौ उद्योतनसूरेस्तौ शिष्यौ श्रीवच्छलवलदेवौ ॥

(५) सं० ९३७ आषाढार्द्धे ॥ Jain inscription P. II P. 164

को प्रोत्साहित किया। क्रमशः विमलवसही[२९] नामक वृहत्तर जैन मंदिर निर्माण हुआ, जो भारतीय कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसी मंदिर में १०८८ में आचार्य वर्द्धमानसूरिजीने प्रतिष्ठा की, ऐसा अनेक पुरातन ऐतिहासिक पट्टावलीओं से सूचित होता है, यद्यपि इस विषय के लोगों ने मतभेद खड़ा कर रखा है, पर वह निःसार है। जिस विषय को पुरातन ऐतिहासिक प्रमाण सिद्ध कर रहे है, उसमें शंका करना कदाग्रह नहीं तो और क्या हो सकता है? १०८८ तक सूरिजी की विद्यमानता में शंका की जा रही है, परंतु वाचको को निम्न वृतान्त से विदित हो जायगा कि, तब सूरिजी विद्यमान थे। दूर्लभ के समय में चैत्यवासीओं के शास्त्रार्थ में आप भी थे, आप का स्वर्गवास आबू में ही हुआ[३०]। वर्द्धमानसूरिजी जैसे उत्कृष्ट कृयापात्र थे, वैसे ही उच्च कोटिं के विद्वान ग्रन्थकार भी थे। आपने विक्रम संवत् १०५५ में हरिभद्रसूरि विरचित, "उपदेशपद पर वृत्ति" निर्माण की, और "उपमिति भवप्रपञ्च नाम समुच्चय[३१]" "उपदेश भापा बृहद्वृत्ति" आप ही की शुभ कृतियें हैं। आप का प्रतिमालेख सं. १०४५ का कटिग्राम उपलब्ध होता है।

---

२९. दक्षिण भारतीय कनाडी भापा के शिलालेखो और ग्रन्थों में वसदि या वसति शब्द का प्रचार विशेप रूप से दृष्टिगोचर होता है। वसति शब्द संस्कृत तत्सम (वस्ती) का तद्भवरूप मात्र है, वसती शब्द भी वसति का ही द्योतक है। खासकर यह शब्द जैन मदिरों के लिये प्रयुक्त देखा गया है, ऐसा इ० स० १५५० "बोम्मरस विरचित चतुरास्य निघण्टु" से फलित होता है। वसहि शब्द का पुरातन उल्लेख इ० स० ११८१ के श्रवणवेलगोला के शिलालेख में मिलता है, प्राकृतभापा के कोषों में वसइ या वसदि शब्द पाये जाते हैं।

३०. "ततो वर्द्धमानसूरिः सिद्धाराविभिना श्रीअर्बुदशिखरतीर्थे देवत्वं गतः"
जिनपालोपाध्याय रचित गुर्वावली "पुरातन खरतर गच्छ पट्टावली" "प्रभावक चरित्रादि" अनेक ग्रन्थों से इनका १०८८ मे रहना सिद्ध हैं।

३१. पीटर्सन रिपोर्ट वॉ. 3. P. 4.

आचार्य जिनेश्वरसूरि ओर बुद्धिसागरसूरिः—

जैन साहित्य के रचयिता और प्रभावक आचार्यों में इन दोनों बन्धु आचार्यों का स्थान अत्यन्त उच्च व महत्वपूर्ण है। यह आपही का परमोपकार है कि–जैन मुनिगण आज वसति में दिखाइ दे रहे है। पूर्वकाल में तो जैन मुनियों को अन्य की भांति अरण्यवास करना पडता था, क्यों कि नगरों में चैत्यवासीयों का प्राबल्य था, इस का अर्थ पाठक यह न करें कि बहूत पुरातन समय से ही चैत्यवास[32] चला आ रहा था. पर बीच में इनका प्रभाव जैन समाज पर अधिक हो गया था। बढते बढते यहां तक बढा था कि, कई नगरों में तो जैन सुविहित मुनियों को निवासार्थ स्थान तक मिलना असंभव सा हो गया, जिस समय का हाल पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है, वह समय गुजरात के लिये अत्यन्त चिन्तनीय था, क्यों कि उसकी राजधानी भारतप्रसिद्ध

---

३२. चैत्यवासोत्पत्ति की निश्चित तिथि बतलाने के साधन नहीं है, परंतु वज्रस्वामीजी के समय में इसका अस्तित्व पाया जाता है। पादलिप्त-सूरिजी के समय में भी कुछ आभास मिलता है। धर्मसागर अपनी पट्टावली में इसका उत्पत्ति काल सूचित करते है, पर इतः पूर्व इस की प्रसिद्धि सार्वत्रिक हो चुकी थी। आचार्य महाराज श्रीहरिभद्रसूरिजीने इस पर अनेक भीषण शाब्दिक प्रहार "**संबोध प्रकरण**" में किये हैं, जो इसका महान् प्रचार सूचक है। तदनंतर आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजीने इन्हें दुर्लभराज की सभा समक्ष शास्त्रार्थ कर पराजित कर "खरतर विरुद" लिया। इनके वाद आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि, श्री जिनदत्तसूरि, श्री जिनपतिसूरि आदि खरतर गच्छीय विद्वानोंने ही इन लोगो के सामने महान् आंदोलन चलाया, बड़ी बड़ी सभाओं मे जाकर शास्त्रार्थ किये और इनकी मान्यताओं के विरुद्ध अनेक ग्रन्थ निर्माण किये, जो आज तक उस समय की, विषम समस्या के परिचायक है। आज का यतिसमाज चैत्यवासीयों का अवशेष मात्र है।

हम यहां इस विषय पर अधिक न लिख कर पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे **"जैन साहित्य और इतिहास"** पृ. ३४७–नामक ग्रन्थ देखें।

अणहिलपुर पाटन चैत्यवासीयों से अत्यन्त प्रभावित थी, यहां तक कि वे सुविहित जैन मुनियों को ठहरने स्थान तक न देते थे, और न किसी से दिलवाते थे। देनेवालों को भी बहुत कष्ट देकर खाली करवाने के षडयंत्र रचे जाते थे। ऐसी विकट परिस्थिति उनके समस्त विचारों का आमूल परिवर्तन करना बड़ा कठिन था, वे तो अपने से विरुद्ध कोई बात सुनना ही न चाहते थे। उनके आगे न दलिल न वकील न कोई अपील ही थी; क्यों कि राजवर्ग का उन्हें पूर्ण आश्वासन प्राप्त था।

वर्द्धमानसूरिजी मालवे में विचरते थे। आप के जिनेश्वर और बुद्धिसागरसूरि अत्यन्त प्रतिभासंपन्न विद्वान शिष्य थे। आपने गुजरात में विचरण करने की आज्ञा मांगी, इस पर आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजीने तत्कालिक गुजरात प्रान्तकी विषमता इनके आगे कही। इस पर दोनों विद्वान् आचार्य और वर्द्धमानसूरि आदि मुनिवर्य पृथ्वी पर विचरण करते करते भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए गुजरात की राजधानी अणहिलपुर पाटन पधारे, पर वहां सुविहित मुनियों को ठहरने को स्थान कहां?, आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि स्वयं स्थान निरीक्षणार्थ नगर में भ्रमण करने लगे। फिरते हुए राजपुरोहित के वहां पहुंचे। वहां आपने अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रौढ प्रतिभा से उसे रंजित कर प्रभावित किया। सूरिजी—पूर्व ब्राह्मण होने से—वेदविद्याविशारद तो थे ही, पुरोहितादि विद्वानोंने अनेक प्रौढ़ विषयों के प्रश्न किये, पर सूरिजीने सभी के प्रश्नों के उत्तर बडी सावधानी व विद्वत्ता[33] से दिये। पुरोहित कोमल शब्दों में बोला—हे पूज्य! आप को वेद पढने का अधिकार है क्या? शूद्रों को वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये, (स्त्री शूद्रो नाऽधीयताम्) सूरिजीने

३३. प्रश्नोत्तरों के जानने के लिये गण० सा० बृहद्वृत्ति का निरीक्षण आवश्यक है।

कहा हम ब्राह्मण हैं, और चार वेदों का अध्ययन किया हैं। इस से पुरोहित की प्रीति और भी दृढ हो गइ।

जब चैत्यवासीयों को विदित हुआ कि, सुविहित मुनि अपनी राजधानी में आये है, और ठहरे हैं भी राजपुरोहित के वहां!। तब उनके द्वारा इन मुनियों को यहां से अतिशीघ्र प्रस्थान करवाने के प्रयत्न सोचे जाने लगे। यहां तक नौबत आ गई कि, चैत्यवासीयों ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया "आप शीघ्र नगर का परित्याग कर बाहर चले जाइये क्यों कि चैत्यबाह्य श्वेतांबरो को यहां स्थान नही है, परंतु मुनियोंने कुछ प्रत्युत्तर न दिया। पुरोहितने ही उन्हें शान्ति से समझा वापिस लौटा दिये, तब चैत्यवासीगण महाराज दुर्लभराज चौलुक्य (राज्यकाल वि० सं० १०६६–७८) के पास जा कर अपना सार्वभौमिक इतिहास उपस्थित किया। बात यह थी कि अणहिलपुर पाटन के प्रस्थापक महाराज वनराज चावड़े का बाल्यकाल में पालनपोषण चैत्यवासी शीलगुणसूरि और देवचन्द्रसूरिने किया था। राज्याभिषेक भी उन्हीं ने किया था, इस के प्रत्युपकार के समय में और सम्प्रदाय विरोध के भय से पाटन में मात्र चैत्यवासी मुनि हीं रह सकते हैं, जैन श्वेतांबर मुनि नहीं,[36] ऐसा लेख वनराज ने इन लोगों को लिख दिया था, यही महाराजा दूर्लभ के सामने पेश किया, और उन लोगों ने उपदेश दिया कि पूर्वपुरुषों का कथन आप को मान्य रखना चाहिये।

---

३४. तपसा तापसो ज्ञेयो, ब्रह्मचर्ये ब्राह्मण। पापानि परिहरंश्चैव, परिव्राजोऽभिधीयते— गण० बृहद्वृत्ति ॥

३५. ऊचुश्च ते झटित्येव, गम्यतां नगराद् वहिः। अस्मिन्न लभ्यते स्थातुं. चैत्यबाह्यसितांबरैः ॥ ६४ ॥

३६. चैत्यगच्छ यतिव्रात, सम्मतो वसतान्मुनिः,। नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्य तदसम्मतैः ॥ ७६ ॥ प्रभावक चरित्र पृ. १६२।

महाराजा दूर्लभ बहुत चिंता में पड़े क्या करना चाहिये ?, न्याय भी ऐसा होना चाहिये किसी को भी अन्याय न हो। बहुत विचार करने के बाद राजा ने निश्चित किया कि, सिवाय शास्त्रार्थ के कोई ऐसा तरिका नहीं है जिससे दोनों संतुष्ट हो सकें।

अतः शास्त्रार्थ का दिन निश्चित किया गया, दोनो पक्षों के लिये शास्त्रार्थ का उपयुक्त स्थान " पञ्चासरा पार्श्वनाथ " चुना गया, और अध्यक्ष का भार चौलुक्यवंशीय महाराज दुर्लभ ने स्वयं ग्रहण किया।

शास्त्रार्थ के दिन चैत्यवासीयों की ओर से सूराँचार्य प्रभृति विद्वान आये और सुविहित मुनिगों की ओर से वर्द्धमानसूरिजी अपने दोनो विद्वान शिष्यों सहित सभामें पधारे। महाराजा दुर्लभ भी अपनी विद्वत् परिषद् युक्त पधार कर अध्यक्षासन ग्रहण किया। शास्त्रार्थ का मुख्य विषय था जैन मुनियों का आचार कैसा होना चाहिये? (इस के अंतर्गत कई प्रश्न हुए) श्री जिनेश्वरसूरिजी ने प्रतिपादन किया कि, हमारे लिये तो पूर्व गणधर प्रदर्शित मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है, एतद्विषय निर्णयार्थ राज ज्ञानभंडार से मुनिमार्गप्रदर्शक दशवैकालिक सूत्र मंगवा कर सिद्ध कर दिया कि, वर्तमान में जैसा चैत्यवासियों का आचरण है, वह वास्तविक रीत्या जैन मुनियों के आचार से अत्यन्त पतित है। राजाने सुन कहा तमे खरा को-आप सच्चे है ऐसा कह कर **महाराजा दुर्लभ ने चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त कर वसति मार्ग सिद्ध करने पर श्री जिनेश्वरसूरिजी को खरतर विरुद अर्पित किया** उनकी संतति खरतर गच्छ के नाम से

३७. सूराचार्य भी कम विद्वान न थे। आपने विद्वत्ता के बल पर **भोज** की सभा को पराजित किया था। शब्द और प्रमाण शास्त्र के आप अद्वितीय विद्वान थे। वि० सं० १०९० मे आपने ऋषभदेव नेमिनाथ दो तीर्थंकरों के चमत्कारिक द्विसंधान काव्य अपयमयात्मक निर्माण किया।

प्रसिद्ध हुई। प्रभावक चरित्र में शास्त्रार्थ विषयक उल्लेख को न देख कर, कई सम्प्रदायवादीओं ने फैसला दे दिया कि जिनेश्वरसूरिजी और चैत्यवासियों का सभा में शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं, प्रत्युत महाराजा दुर्लभ ने ही उनके गुणों पर मुग्ध हो कर निवास की आज्ञा दे दी, यह कथन सर्वथा भ्रान्त है, क्यों कि सुमतिगणि ने बृहद्वृत्ति में साफ साफ शास्त्रार्थ का विवरणात्मक उल्लेख कर दिया है। वह है भी सं० १२९५ का, और प्रभावक चरित्र सं. १३३९ का बना हुआ है।

यद्यपि बहु संख्यक ऐतिहासिक विद्वान जैसे कि आचार्य म. श्री सागरानंदसूरिजी[41], मुनि कल्याणविजयजी[42], आदि कों का मन्तव्य है कि चौदहवीं शताब्दि के पूर्व खरतर शब्द का उल्लेख शिलालेख और ग्रन्थों में देखने में नहीं आता, उनके कथन में जरा भी सत्यता नहीं है। इतने बडे भारी विद्वान हो कर बिना खोज किये ही, किसी भी विषय पर अंतिम निर्णय देना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है, खरतर शब्द बारहवीं शताब्दी के कतिपय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है पर गच्छव्यामोह से न दिखता हो तो हम कुछ नहीं कह सकते। खरतर शब्द पुरातन साहित्य में बहुत जगह पर व्यवहृत पाया गया है, जिनमे से कुछ का उल्लेख पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते।

---

४१ बालुचरना कृत्रिम लेखने बाद करतां कोई प्रतिमाजी आदिना लेखमां १२०४ पहेलां तो शुं? पण १४ मी सदीमां खरतर बिरुदनी वात होय तो लखवी. सिद्धचक्र व० ४, अं २१, पृ. ४८९

४२ " उसी टीका मे (गणधरसार्द्धशतक) सुमतिगणिने श्री जिनदत्तसूरि का भी सविस्तार चरित्र दिया है पर कही भी " खरतर गच्छ " अथवा " खरतर " शब्द का सूचन नही मिलता। इन बातों से हमने जो कुछ सोचा और समझा उसका सार यही है कि चौदहवी सदी के पहिले के शिलालेखों और ग्रन्थों में "गच्छ" शब्द के पूर्व मे "खरतर" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।" श्री जैनसत्यप्रकाश वं. ५०, अं. ८, पृ. २६८

श्री जिनेश्वरसूरिजी के पट्टधर श्री जिनचंदसूरि शिष्य प्रसन्नचंद्रसूरि शिष्य सुमतिवाचक के शिष्य मुनि गुणचंद्र ने अपने वि० सं. ११३९ निर्मित प्राकृत महावीर चरित्र में, निम्नोक्त उल्लेख किया है जिसके खरयर–खरतर–शब्द स्पष्ट रूप से किया है।

बोहित्थोव्व सिरिसूर जिणेसरो पढमो[43]। गुरुसाराओ धवलाओ खरयर साहू संतइ जाया ॥

आचार्य देवभद्रसूरिजी नें भी अपने **पार्श्वनाथ चरित्र** में (रचना काल सं. ११६८) खरतर शब्द का उल्लेख किया है।

आयरिय जिणेसर बुद्धिसागर खरयरा णाँया[44] वि. सं. ११७० लिखित यल्ह कवि विरचित गुर्वावली में निम्नोल्लेख स्पष्ट है:–

देवसूरि पहु नेमिचन्दु बहु गुणिहि पसिद्धउ। उज्जोयणुं तह वद्धमाणु खरतर वर लद्धउ[45] ॥

उपरोक्त प्रबद्घावली में खरतर शब्द श्री वर्द्धमानसूरिजी के प्रसंग में आया है, इस से कोई खास बात में अंतर नहीं पडता, क्योंकि शास्त्रार्थ में वे भी थे। आचार्य भगवान श्रीमान् महाराजश्री जिनदत्तसूरिजी ने भी अपनी कृत्ति में खरतर शब्द का उल्लेख किया है।

"तुम्हह इहुयहु चाहिली दसिउ, हियइ बहुत्तु खरउ वीमंसिउ" इस पर बडौदा सरकार के मान्य पंडित **लालचंदभाईने** अपनी[46] नोट लिखकर विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। उपरोक्त उदाहरण मूल ग्रन्थों के है, पर टीकाओं भी खरतर बिरुद प्राप्ति के साफ उल्लेख मिलते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्व के हैं, लोगों का ख्याल रहा है कि गणधरसार्द्धशतक की बृहद्वृति में खरतर

४३ पीटर्सन रिपोर्ट ३, १८८४–८६ पृ० ३०५। ४४ जैसलमेर ज्ञानभडार ताडपत्रीय ग्रन्थाक २९६.। ४५ अपभ्रंश काव्यत्रयी G. O. S. No. XXXVII पृ. ११०। ४६ अपभ्रंश काव्यत्रयी GOS No. XXXVII पृ. ७६

४७ " उपर्युक्तामेव गाथाया " **बहुत्तु खरऊ** " पदं प्रयुज्य ग्रन्थ कर्त्रा निजाभिमतस्य विधिपथस्य " खरतर " इति गच्छ संज्ञा ध्वनिता वितर्क्यते विधि पथस्यैव तस्य कालक्रमेण प्रचलिता " खरतर गच्छ " " इत्याभिधाऽद्यावधि विद्यते " उक्त पुस्तकस्य भूमिका पृ. ११६

बिरुद का कोई उल्लेख नहीं है, परंतु अभी हमने इस प्रति का पूर्ण रुप से अध्ययन किया, तब विदित हुआ कि, इस कृति में खरतर शब्द दो बार आया है, एक ग्रन्थादि भाग में और दूसरा बिरुद वाची, ये उल्लेख इस प्रकार है—"तत्र प्रवचनप्रभावनाप्रासादोत्तुंग-शिखरखरतरमरुत्तरंगरंगच्चारु चामीकरोद्दद दंडनिर्धौ पूतप्रबलकलकलाविद्राणरणत्किङ्किणी काण पट पटायमान धवलध्वजपटायमानः"।

बिरुदवाची:—" कि बहुनेत्थं वादं कृत्वा विपक्षान्निर्वित्य राजामात्यश्रेष्ठिसार्थवाहप्रभृतिपुरप्रधानपुरुषैः सह भट्ट घट्टेषु वसतिमार्गे प्रकाशन यशःपताकाय मान काव्यग्रन्धान् दूर्जनजनकर्णशूलान् साटोयं पठत्सुसत्सु प्रतिष्ठावसतौ प्राप्त **खरतरविरुदा** भगवन्तः श्रीजिनेश्वरसूरयः एवं गूर्जरत्रा देशे श्रीजिनेश्वरसूरिणा प्रथमं चक्रे वक्त मूर्द्धसु पादमारोप्य वसति स्थापनेति "— " **बृहत् वृत्ति** "

उपरोक्त सभी खरतर बिरुद प्राप्ति विषयक पुरातन उद्धरण दिये हुए हैं, और भी अनेक ऐसे महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो इस पर नूतन प्रकाश डालते हैं, इन उल्लेखों को देखकर पाठक विचारेंगे कि चौदहवीं शती पूर्व कोई उल्लेख नहीं मिलता जिसके गच्छ के पूर्व खरतर शब्द हो" कथन कहां तक युक्तिसंगत है ?, इसकी पुष्टि में और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। खरतर बिरुद प्राप्ति से श्रीजिनेश्वरसूरिजी की यशःपताका सारे देशमें फहराने लगी, आजतक कोई ऐसा विद्वान् नहीं हुआ जिसने चैत्यवासियों के सामने शास्त्रार्थ कर अपना मत प्रतिपादन कर उन्हें परास्त किये हों, क्यों कि वे लोग भी कम विद्वान न थे, पर चारित्रिक सम्पत्ति से वे सर्वथा विमुख थे। जिनेश्वरसूरिजीने हरिभद्रजीके–अष्टक पर वृत्ति-(वि० सं० १०८०) पञ्चलिंगी प्रकरण–वीर चरित्र–निर्वाण लीलावंती कथा–(सं० १०९५)-कथा कोश–(आशापल्ली सं० १०८२–९५ बीच)–प्रमाणलक्षण सवृत्ति–षट् स्थानक आदि अनेक ग्रन्थ निर्माण कर बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है, आपका मुनि समाज पर जो उपकार है उसे हम कदापि नहीं भूल सकते। आपका शिष्यपरिवार

विस्तृत और विद्वान् था. जिनचंद्रसूरि, अभयदेवसूरि, श्रीधनेश्वरसूरि, हरिभद्रसूरि, प्रसन्नचंद्रसूरि, धर्मदेवोपाध्याय, सहदेव गणि आदि, इनमें से कई तो उत्तम श्रेणिके ग्रन्थ रचयिता थे। **सुरसुंदरी कहा** धनेश्वरसूरि रचित उत्तम कोटि की कथा है, जो बोम्बे युनिवर्सिटी में पढ़ाई जाती है, प्रस्तुतः ग्रन्थ, इस ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्ररचित सूचित करते हैं। बुद्धिसागरसूरिजी भी कम विद्वान् न थे। आपने वि० सं० १०८० में स्वाभिधान **बुद्धिसागर** अपरनाम **पञ्चग्रन्थी व्याकरण** गद्य पद्यात्मक १००० श्लोक में निर्माण किया, आप ही जैनों के आद्य व्याकरणकार माने जाते हैं, वृहद्वृति से मालूम होता है कि जिनेश्वरसूरिजी का अवसान पाटन में ही हुआ था।

जिनभद्रः—इनका परिचय मात्र इतना ही प्राप्त है कि वे जिनेश्वरसूरिके शिष्य थे।

श्री अभयदेवसूरिः—आपका जन्म धारानगरी में वि० सं० १०७२ में हुआ था। भारत में उस समय शिक्षा और कला की अपेक्षा से धारा का स्थान बहुत ऊंचा था, आपने अल्प वय में दीक्षा ग्रहण कर सर्व शास्त्रों के अध्ययन में उत्तीर्ण हो कर १६ वर्ष की अल्प वय में आचार्य पद प्राप्त किया था। किसी कारण आपको कुष्ट रोग हो गया, निवारणार्थ स्तंभन पार्श्वनाथ की प्रतिमा वि० १११९ में प्रकट कर उसे दूर किया, नवांग पर नूतन वृत्तियें निर्माण कीं। प्रभावक चरित्रकार का सूचन है कि **शीलांकाचार्यने** पूर्व वृत्तियें निर्माण कीं थीं, पर अभयदेवसूरिजी स्वयं अपनी टीका में इसका विरोध करते हैं। आपने बहुत टीकाएं पाटन में रह कर बनाई थीं, और चैत्यवासी द्रोणाचार्यने संशोधनादि कार्य में पूर्ण सहायता प्रदान की थी। **समवायांग** वृत्ति (११२०। **स्थानांग** (११२०), **उपासकदशा**, **अन्तकृद्-दशा**, **अनुत्तरोपपातिक**, **प्रश्नव्याकरण**, **विपाक** सूत्रों पर विद्वत्तापूर्ण वृत्तियें निर्माण कर जैनागमाभ्यास सुकर किया, **पट् स्थानक** पर भाष्य, हारिभद्रीय **पञ्चाशक** पर वृत्ति, **आराधना कुलक**, **महावीर स्तोत्र**, **जयतिहूअण स्तोत्र**, **नव तत्त्व**, भाष्यादि आपके उत्कृष्ट विद्वत्ता-

सूचक ग्रन्थ है। आपका स्वर्गवास वि० सं० ११३५–३७ में गुजरात कपडवंज नगर में हुआ। आज भी वहां आपके चरण विराजमान हैं। अशोकचंद्र, धर्मदेव, हरिसिंह, सर्वदेव इन सभी का परिचय श्री जिनदत्तसूरिजीके प्रसंग में स्वयं आ जाता हैं।

देवभद्राचार्यः—आपका जन्म किस ज्ञाति में ? कब ? कहां हुआ ? आदि ऐतिहासिक परिचय सर्वथा अनुपलब्ध है, मात्र इतना ही विदित है कि, आप श्री सुमतिवाचक के शिष्य थे, और आचार्य पद पूर्व का नाम गुणचंद्र था, (महावीरचरित्र में यही नाम आता है) आप बारहवीं सदी के विद्वान् आचार्य थे, आपकी दार्शनिक प्रतिभा आपके ग्रन्थों से स्पष्ट झलकती है, आपने कई ग्रन्थों की रचना की, तथा अन्य विनिर्मित ग्रन्थों का संशोधन किया, आपकी साहित्यिक सम्पत्ति इस प्रकार है, महावीरचरित्र, पार्श्वनाथचरित्र, कथारत्न कोश, प्रमाणप्रकाश, अनन्तनाथ स्तोत्र, स्तंभनक पार्श्वनाथ स्तोत्र, वीतराग स्तवः। प्राकृत भाषा पर आपका अपूर्व प्रभुत्व था, आपकी कविता में रसमाधुर्यता है, जो अन्यत्र शायद ही मिले, धारावाहिता तो आपका प्रमुख गुण है, आप न मात्र उच्चश्रेणिके साहित्यकार ही थे पर साथ ही कुशल गच्छ सञ्चालक भी थे। यहां पर प्रश्न उपस्थित यह होता है कि वे किस गच्छके थे? यद्यपि उन्हों ने आत्म ग्रन्थों में स्पष्ट रूपेण किसी गच्छ के होने के उल्लेख नहीं किये, पर परंपरा को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आप खरतर गच्छ के थे, अशोकचंद्रसूरि, जिनवल्लभसूरि, श्री जिनदत्तसूरिजी को आपने ही आचार्य पद से सुशोभित किये थे, ऐसा खरतर गच्छ पट्टावली और गण० बृहत् वृत्ति से जाना जाता। यहां पर स्मरण रखना चाहिये कि अन्य किसी गच्छ के आचार्यों से इनका सम्वंध नही मिलता। जैसलमेर स्थित पार्श्वनाथ चरित्र में "खरयर" शब्दोल्लेख होने का सुना जाता है, परंतु मुनिश्री पुण्यविजयजी कथारत्न कोश की प्रस्तावना (पृ० ९) में लिखते हैं कि यह शब्द बादमें किसीने सम्मिलित किया है, जिसका कारण आपने

गच्छ व्यामोह बतलाया है। हम यहां पर आदरणीय मुनिजी से इतना ही कहना उचित समझते हैं कि, उपरोक्त शब्द आपने स्वयं देखे या किसी के कथन से आपने लिखा है। यदि सत्य में शब्द परिवर्तित किया होता तो मुनिजी को पूरे पत्र का फोटू देना था जिसकी लिपि पर से भी अनुमान लगाया जा सकता कि मूलकी लिपिमें और प्रक्षिप्त शब्द की लिपि कितना परिवर्तन है। हम नहीं समझ सकते कि ऐसा क्यों किया होगा, देवभद्रसूरि किसी और गच्छ के होते तब तो ऐसा करना भी ठीक था, पर वे तो खरतर गच्छ के ही थे, जैसा कि उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है। यहां खरयर शब्द जोडने की बात ही उपस्थित नहीं होती। मुनिजी ओर भी आगे सूचित करते हैं कि "जैसलमेरमां एवी घणी प्राचीन प्रतियों छे, जेमांनी प्रशस्ति अने पुष्पिकाओना पाठोने गच्छ व्यामोहने आधीन थई बगाडीने ते ते ठेकाणे "खरतर" शब्द लखी नांखवामां आव्यो छे, जे घणुं ज अनुचित कार्य छे" हम यहां मान्यवर मुनिजी से यही कहेंगें कि वे जिन ग्रन्थों में शब्द परिवर्तित किये गये हैं; उनकी सचित्र प्रतिकृति उपस्थित करें या सूचि पेश करें, हम आपके बहुत आभारी होंगे। देवभद्रसूरिजी के समय में लेखन कार्य में काष्ठका भी प्रयोग होता था, आप के "पार्श्वनाथ महावीर चरित्रादि" ग्रन्थ काष्ठ पर खुदवा कर श्री जिनदत्तसूरिजी को अर्पित किये थे। पुरातन भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत से उल्लेख मिलते हैं, जिन से विदित होता है कि, प्राचीन समय लेखन कार्य में काष्ठ का प्रयोग होता था, "ललित विस्तर" (अ० १० पृ० १८१–८५ इंग्लीश आवृत्ति) "कटाहक" जातक इसके प्रमाण स्वरूप है, स्वयं **गौतम बुद्धने** अक्षरारंभ करते समय चंदन के काष्ठका उपयोग किया था, १० मी शताब्दी में गुजरात प्रान्त में भी काष्ठको विशेष उच्चत्व प्राप्त था, सोमनाथ का सुप्रसिद्ध मंदिर पूर्वे काष्ठ का ही बना था, पर परमार्हत् कुमारपालने जीर्णोद्धार कर पाषाण का बनवाया, जैसलमेर में २ काष्ठपट्टिकाएं ऐसी हैं जिन पर जिनवल्लभसूरि और जिनदत्तसूरिजी के सुंदर

चित्र बने हुए है और भी कई काष्ठ पट्टिकाएं प्राप्त है जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। ब्रम्ह देशमें आज भी इसका विशेष प्रचार पाया जाता है। बोडलियन पुस्तक संग्रह में बहुसंख्यक ग्रन्थ काष्ठ पर सुंदर लिखित व चित्रित है। मेरे संग्रह में भी कुछ काष्ठचित्रितावस्था में है, बहूत जैन मंदिरो में भी काष्ठ पर सुंदर शिल्प के दृश्य देखने को मिलते है, इन सभी उदाहरणों से निष्कर्ष यही निकलता है कि पुरातन भारतीय लेखन एवं शिल्पादि कार्य में काष्ठका प्रयोग भी बडी सफलता के साथ करते थे, पर जैन ग्रन्थ काष्ठ पर खुदवाने का यह प्रथम ही उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर हुआ। अमरावती (बरार) में १ खरतर गच्छीय उपाश्रय में वि० सं० १९२१ का १ काष्ठोत्कीर्ण लेख मिला है, चित्र हमारे संग्रह में है। वि० देखें **"भारत में लेखन एवं शिल्पकला में काष्ठका उपयोग"** नामक निबंध।

श्री जिनवल्लभसूरिः—१२ वीं सदी के विद्वान् क्रियापात्र जैनाचार्यों में आपका स्थान अत्युच्च है। उस समय आपही ने जैन धर्म को खतरे से बचाया। आप सरीके पक्के सत्याग्रही उस समय न होते तो आज भी चैत्यवास उसी रूप में दिखता जैसा पूर्व था। आपने उनके सामने भयंकर आंदोलन चलाया था, और सत्य के ही बल पर आपकी विजय हुई, एतद्विषयक आपने एकाधिक खंडनात्मक ग्रन्थ निर्मित किये। आप आसिका दुर्ग निवासी कर्चपुरीय जिनेश्वराँचार्य के शिक्षणालय में पढते थे। जनक नहीं थे, जननी अकिंचन थीं, ५०० दम्म दे कर इन्हें दीक्षित किये। आपकी मेधा अत्यन्त सूक्ष्म थीं। एकदा आपने पुस्तक में पढ़ा मुनियों को ४२ दोष रहित आहार करना

४८. आचार्य सागरानंदसूरिजीने ये जिनेश्वराचार्य और वसति मार्ग प्रकाशक जिनेश्वरसूरि को एक ही मानकर यह प्रश्न किया है "सं० ११३०–३४ में अभयदेवसूरिजी महाराज स्वर्गवासी हुए...(और)...११६८ में जिनवल्लभ कूर्चपुरीय जिनेश्वर को अपने गुरु बताते है यह विचारणीय है" जिनेश्वरसूरि चैत्यवासी थे जिनके मठ मे पूर्व इन्होंने अध्ययन किया था, इस अवस्था के गुरु को अपेक्षा से उनका लिखा है। वर्द्धमान के पाट पर तो श्री जिनेश्वरसूरिजी थे ही, बात बिल्कुल साफ है, न जाने सागरजी महाराज को क्यो कर शंका हो गई।

चाहिये, इसी समय आप जैन सिद्धान्त वाचना ग्रहणार्थ अभयदेवसूरिजीके पास पाटन आये, बड़े प्रेमसे वांचना दी । आप भी पर्याप्त प्रभावित हुए, और चैत्यवास विपतुल्य भाषित होने लगा । आपने अभयदेवसूरि के पास विधिमार्ग अंगीकार किया, दीक्षा ली, आपको जैनादि षट् दर्शनों का ज्ञान था ही पर ज्योतिष में भी आपकी विशेष प्रगति थी । ऐसा आपके एक ज्योतिषज्ञ के साथ विवाद से विदित होता है । आपने चित्तोड़ में चंडिका देवी को प्रतिबोध दिया, वहां विधि चैत्य की स्थापना कर अपना संघपट्टक महावीर चैत्यालय में खुदवाया । यहां आपको चैत्यवासीयों ने अत्यन्त कष्ट दिया । ५८० लठैतों मारने के लिये आये थे. पर जहां सत्य का सूर्य चमकता है वहां पर मिथ्यावादी–उल्लू कहां ठहर सक्ते हैं ? । आपने अपनी समस्या पूर्ति के बलसे धाराधीश नरवर्म्म को प्रसन्न कर चित्तौड़ के जिन मंदिर के लिये दो लक्ष मंडपीका दान दिलवाई । वागड़ देश में १०००० मनुष्यों को जैनी बनाये, आपने मरोट में उपदेशमाला की १ गाथा पर छ मास विवेचन किया पर फिर भी पूर्ण न हुआ, इसीसे प्रकांड विद्वत्ता और महोच्च वाग्मिता का सूचन होता है । नागोर में आपका विशेष प्रभाव था । आपका भक्त श्रावक पद्मानंद भी विद्वान् ग्रन्थकार था, सं० ११६७ कार्तिक वदि १२ को आपका देहावसान चित्तौड़ में ही हुआ । आचार्यवर्य जैसे क्रियापात्र थे, वैसे ही उत्तम विद्वान् थे । सूक्ष्मार्थ विचारसार–षड्शीति–कर्मग्रन्थ–संघपट्टक–पौषधविधि प्रकरण–धर्मशिक्षा–द्वादश कुलक–प्रश्नोत्तरशतक–प्रतिक्रमण सामाचारी–अष्टसप्ततिका–शृंगारशतक–स्वप्नाष्टक विचार–धर्मशिक्षा–पिंडविशुद्धि प्रकरण भिन्न २ प्रकार के चित्र काव्यादि स्तोत्र निर्माण कर आपने अपनी प्रकांड विद्वत्ता ज्ञापित की है । आपकी रचनाएं बड़ी मृदु कर्णमधुर है, संस्कृत

४९. प्रस्तुतः कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अनेक विद्वानो ने इस पर कई वृत्तियें निर्माण कर इसे गौरवान्वित किया, सर्वग्राह्य बनाया । विक्रमकी सत्रहवी शताब्दि में शुभविजय संग्रहीत "प्रश्नोत्तररत्नाकर" पृ. ४ में सोमविजयगणिने शंका उठाई है कि "पिण्डविशुद्धिनिर्माता जिनवल्लभगणिखरतर थे या अन्य ? उत्तर दिया गया ये खरतर गच्छके संभावित नहीं होते," यह उत्तर कितना असत्यता से परिपूर्ण है और देनेवाले भी मृषावाद के

साहित्य में प्रत्युक्त छंदों में आपने प्राकृत भाषा के उत्तम पद्यों की रचना की है। आप जैसे उत्कृष्ट प्राकृत कवि अत्यल्प हुए हैं। आपके ग्रन्थ इतने गहन विषय के हैं. जिन पर मलयगिरि और जिनपतिसूरि जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने वृत्तियें निर्माण कर, सरल बनायें हैं। प्रस्तुतः ग्रन्थ में आपका वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उक्तियों अलंकारों से किया गया है और आप थे भी उस वर्णन के सर्वथा योग्य।

मूल ग्रन्थकार परिचयः—आचार्य श्री **जिनदत्तसूरिजी** का जन्म वि० सं० ११३२ गुर्जर प्रान्तान्तर्गत धन्धूका नगर में मंत्री श्री **वाच्छिग** की धर्मपत्नी **वाहडदेव** की रत्नकुक्षी से हुआ था। बाल्यकाल में इनके लक्षण बड़े ऊंचे थे, श्री जिनेश्वरसूरि शिष्य **धर्मदेवोपाध्याय** की आज्ञानुवर्तिनी साध्वीयें चातुर्मास रहीं। इनके लक्षण पूज्य उपाध्यायजी को सूचित किये, उपाध्यायजी ने क्रमशः पधार मातापिता को समझाकर सं० ११४२ में इन्हें दीक्षित कर सोमचंद नाम रखा और अपने बड़े बंधु **सर्वदेव** गणि को परिपालनार्थ, अध्ययनार्थ अर्पित किया। आपने अत्यन्त बाल्यावस्था में न्याय, काव्य, साहित्य, दर्शन, अलंकार, ज्योतिष् स्वपर मत का पूर्ण अध्ययन कर **हरिसिंहाचार्य** पास जैनागम सिद्धान्त की वाचना ग्रहण की, आपने प्रसन्नता से इनको मंत्र पुस्तिका अर्पित की। देवभद्राचार्य आप पर बहुत प्रसन्न रहा करते थे, उन्होंने अपने पार्श्वनाथ चरित्र महावीर चरित्रादि ४ काष्ठोत्कीर्ण कथा ग्रन्थ अर्पण किये, ये अभी

त्यागी, फिर भी असत्यता का प्रतिपादन क्यों किया गया? मैं नहीं कह सकता इसमें क्या रहस्य है? पुरातन और आधुनिक ग्रन्थकार एक स्वरसे कहते हैं कि जिनवल्लभगणि खरतरगच्छीय ही थे, उस समय दूसरे गणि होने का उल्लेख कहीं पुरातनादि साहित्य में देखनेको नहीं मिला, फिर भी सत्यता में व्यर्थ शंका करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। समकालिन एक ही नाम के दो महापुरुष हुए हो तब तो ठीक था, यहां पर शंकाकार की सांप्रदायिक मनोवृत्ति व्यक्त होती है, उत्तर दाता भी साफ साफ निर्णयात्मक जवाब न दे कर और प्रश्नको संदिग्ध बनाते है वे तो स्वयं संदिग्ध मालूम होते है, उनसे उत्तर की आशा ही क्या कि जा सकती है, यह शंकाकार धर्मसागरीय सम्प्रदाय के प्रभावसे प्रभावित हो तो कोई विस्मयकी बात नही। वडौदाके पंडित **लालचंदभाईने** इस विषय निम्न नोट लिख उदारताका परिचय दिया है। "**किंत्वेतत् सुदीर्घदृष्ट्या चिंततेन न समीचीनं प्रतिभाति**"।

कहां है पता नहीं, इनका उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता सिवाय वृहद्वृत्ति के। उपर आप देख चुके हैं कि जिनवल्लभसूरिजी के स्वर्गवास से जैन संघको भारी क्षति पहुंची, उनके पद को सुशोभित कर सके और उनकी क्षतिका अनुभव न हो, ऐसे योग्य पुरुष की प्रतीक्षा की जाने लगी। देवभद्राचार्य को आप इस उत्तरदायित्व पूर्ण पद योग्य मालूम हुए और वि० सं० ११६८ वैशाख वदि ६ को चित्तौड़ नगरी में विधि चैत्य महावीरस्वामी के मंदिर में श्री संघ के सम्मुख आपको आचार्य पद से विभूषित कर जिनदत्तसूरि नाम बोधित किये। आपने अजयमेरु—अजमेर के **अर्णोराज** को त्रिभुवनगिरि के **कुमारपालादि** ४ राजाओं को प्रतिबोध दिया और उक्त नगरों में एकाधिक प्रतिष्ठाएं करवाईं। वागड़ देश में आपने व्याघ्रपुरीय चैत्यवासी **जयदेवाचार्य** को प्रतिबोध दे सुविहित मार्ग अंगीकार कराया। **जिनरक्षित, शीलभद्र, स्थिरचंदादि** आपके शिष्य एवं श्रीमती **जिनमतिपूर्ण** श्री प्रमुख शिष्याएं थीं, इनको भी आपने वाचनाचार्य महत्तरादि पदों से विभूषित किये। आप बड़े चमत्कारी युगपुरुष थे, ६४ योगिनी बावन वीरादि देव देवीयें आज्ञा में थे। यह सर्व आपके उत्कृष्ट चरित्र का ही सुप्रभाव था। आज भी आपका भक्त शायद ही कष्ट में हो। आपने अपने जीवन में सबसे बड़ा अत्यन्त प्रशंसनीय यह कार्य किया कि १३०००० एक लक्ष तीस सहस्र राजपूतों को जैन धर्मानुयायी बना जैन धर्म व ओसवाल जाति में अभूतपूर्व वृद्धि की।

जैन समाज में आज तक कोई आचार्य ऐसे नहीं हुए जिनने एक साथ इतनी महान वृद्धि की हो। कहा जाता है कि रत्नप्रभसूरिजीने वीर निर्वाण ७० में ओसिया में ओसवाल जाति की स्थापना की, पर इसकी पुष्टि के लिये ऐतिहासिक ग्रन्थस्थ या शिलालेख एक भी प्रमाण नहीं है, मात्र किन्वदन्त्यात्मक पट्टावलीयों के आधारपर ही मुनि श्री ज्ञानसुंदरजीने इसघटना को इतना भारी महत्व देखा है जैसे की कोई बड़ी ऐतिहासिक घटना हो, यद्यपि आजतक कई लोग इसी बात को सत्य मानते आ रहे थे, परंतु अनेक दृष्टियों से विचारने से इसकी

सत्यता में भारी संदेह हो जाता है। बाबू पूर्णचंदजी नाहार जैसे पुरातत्वान्वेषी इससे सहमत नहीं, (देखें प्रबंधावली पृ० १३३)

आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजीने औसवाल समाज पर सर्व प्रथम जो उपकार किया उसे कौन स्वाभिमानी ओसवाल जैन भूल सकता है।

आचार्य महाराज आगामी संतान के लिये अपनी महान् साहित्यिक सम्पत्ति छोड़ गये हैं, जो इस प्रकार है। गणधरसार्द्ध-शतक–आपके करकमलों में विराजित है, संदेहदोलावली–योगिनीस्तोत्र–गणधरसप्तति–उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक–सर्वाधिष्ठाई स्तोत्र–चैत्यवंदन कुलक–अवस्थाकुलक–गुरुपारतंत्र्य–विघ्नविनाशी स्तोत्र–विंशीका–श्रुतस्तवं–अध्यात्म गीतानि–वीर स्तुति–अजितशांति स्तोत्र–पार्श्वनाथ मंत्रगर्भित स्तोत्र–चक्रेश्वरी स्तोत्र–उपदेश धर्म रसायन–कालस्वरूप चर्चरी–पद स्थापना विधि–आदि आदि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि भाषा में अनेक ग्रन्थरत्न निर्माण कर भारतीय साहित्य में स्तुत्य वृद्धि की है। अपभ्रंश–जो किसी समय भारत की राजभाषा थी इस–भाषा पर आपका बहूत प्रभुत्व था। विद्वान् लोग आपकी साहित्यक सम्पत्ति पर मुग्ध हैं, आपकी वर्णन व ग्रन्थ-रचना शैली उच्च कोटि की विद्वत्ता परिचायक थी। संवत् ११६२ में वीरचंद्रसूरि शिष्य देवसूरिने प्राकृत गाथा में जीवानुशासन स्वोपज्ञात्मक निर्माण किया और श्री जिनदत्तसूरिजीने संशोधन कर निर्दोष किया, इसमें आचार्यवर्य्य का "सप्तगृह–निवासी" विशेषण आकर्षक और सर्वथा सार्थक है, इसीसे आपके विस्तृत परिवार का पता लगता है। (पी० प, २२) आपके बहुत से ग्रन्थ अप्रकाशित दशा में पडे है, यदि समय अनुकूल रहा तो आपके समस्त ग्रन्थों का समीक्षात्मक परिचय पाठकों के करकमलों में समर्पित किया जायगा।

उपरोक्त विवचन में भगवान् महावीर से लगा कर आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी तक के प्रसिद्ध २ महापुरुषों का संक्षिप्त ऐतिहसिक परिचय आ जाता है, जिससे विदित होता है कि जैन धर्म की रक्षा में उन आचार्योंने महान् सहायता की, लोकोपकारार्थ अनेक विषयक साहित्य

निर्माण कर भारतीयों को गौरवान्वित किया, उनका जीवन हमें नूतन स्फूर्ति प्रदान करता है, और आत्मकर्त्तव्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, ऐसा कौन स्वाभिमानी भारतीय होगा जो उनके उपकारों को याद कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित न करेगा। यहां पर हम इस बात पर जोर देंगे कि भगवान के बाद शासन उन्नायकों में त्यागी ही थे, और आज का समय भी त्यागीयों का ही है. त्यागीयों के पद को त्यागी ही सुशोभित कर सकते है। **आभारः**—यहां पर हम सर्व प्रथम पंडितवर्य्य उपाध्याय मुनिराज **श्रीमणिसागरजी** महाराज—(अब आचार्य)का अत्यन्त आभार मानते हैं, कि जिनकी उदार कृपासे प्रस्तुतः लघुवृत्ति की प्राप्ति हुई। हम आशा करता हैं कि भविष्य में भी आप साहित्यिक सहायता द्वारा हमें उपकृत करेंगे, उपर बतलाया जा चुका है कि, प्रस्तुत वृत्ति की १ ही प्रति० उपलब्ध हुई थीं, अतः उसी पर से संशोधित होकर प्रकाश में आ रही है। इसके संशोधन कार्य में मेरे पूजनीय गुरुवर्य्य १००८ श्रीश्रीश्री उपाध्याय मुनिश्री **सुखसागरजी** महाराजने बहुत परिश्रम किया है। कहना चाहिये उन्हीं के प्रयत्न से यह ग्रन्थ प्रकट हो रहा है, इसके के संशोधन समय कई शंकायें उपस्थित हुई, पर उन सभी को बृहद्वृत्ति के सहारे ठीक करने का प्रयास किया गया है, तथापि छद्मस्थावस्था में इसमें कोई प्रकार की स्खलना रह गई हो तो पाठकगण उसे सुधार कर पढें। **द्रव्य सहायकः**—बैतुल निवासी श्रीमान् **कस्तूरचंद**जी डागाकी धर्मपत्नी अ० सौ० श्राविका **लक्ष्मीबाई** एवं जबलपुरनिवासी स्वर्गस्थ यति श्री **मोतीलाल**जी फंड के व्यवस्थापक श्रीमान् **चांदमल**जी **बुधमल**जी बोथरा ने उक्त फंड में से प्रस्तुतः प्रकाशन के लिये जो सहायता की है वे तदर्थ धन्यवाद के पात्र है। **क्षमायाचनाः**—सर्व प्रथम हम उन ग्रन्थ रचयिता और प्रकाशकों को धन्यवाद देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं जिन से हमने प्रस्तुतः भूमिका लिखने में बहुत सहायता ली है। उपरोक्त भूमिकामें कोई प्रकार की यदि स्खलना रह गई हों तो पाठक सूचित करेंगे ऐसी आशा है।

महासमुंद C. P. ता. २२-७-४४. —मुनि कांतिसागर

॥ अर्हम् ॥

श्रीनवाङ्गीवृत्तिकाराभयदेवसूरिशिष्यमहाकविश्रीमज्जिनवल्लभसूरिशिष्यश्रीमज्जिनदत्तसूरिविरचितम् ।

गणधरसार्द्धशतकम् ।



श्रीपद्ममन्दिरगणिकृतलघुवृत्तिसमलङ्कृतम् ।

। नमः प्रवचनप्रणेतृभ्यः ।

श्रीजिनदत्तसूरिर्भूरिभव्य–नव्य–नव्यतर–श्रद्धालुतावितानतानवोच्छेददक्षनिर्विपक्षविवेकनिमलजलासेकप्रख्यं गणधरसार्द्धशताभिख्यं प्रकरणं चिकीर्षुरादित एव समस्तप्रत्यूहव्यूहापोहाय शिष्टसमयपरिपालनाय चाभिमतगुरुदेवतानमस्काररूपमत्यर्थप्रदातृत्वाव्यभिचारभावमङ्गलमभिधेयादि च श्रोतृजनप्रवृत्तिहेतवे प्रतिपादयन्निमां गाथामाह—

गुणमणिरोहणगिरिणो, रिसहजिणिंदस्स पढममुणिवइणो ।
सिरिउसहसेणगणहारिणोऽणहे पणिवयामि पए ॥ १ ॥

व्याख्या–श्रीरिषभसेनगणधारिणः पदानि प्रणिपतामीति सम्बन्धः । तत्र गणो–गच्छस्तं धारयति दुर्वहपञ्चमहाव्रताखर्व-

सा-

स्रातकम् ।

॥ १ ॥

पर्वतोत्तुङ्गशृङ्गाल्लुठन्तमवस्थापयति=मर्यादया वर्त्तयतीति यावत् तच्छीलो गणधारी । सहेनेन=स्वामिना वर्त्तते इति सेनो, रिषभेण=युगादिदेवेन कृत्वा सेनः=सनाथो रिषभसेनः, स चासौ गणधारी तस्य पादान्=चरणान्, गुरोः पूज्यत्वाद् बहुवचनं, प्रणिपतामि=प्रणमामि, प्रशब्दः प्रकर्षार्थद्योतकस्तेन प्रकर्षेण त्रिकरणविशुद्ध्या, न तूपहाससाध्वसोल्लासादिपूर्वम्, यत उपहासपरोऽपि नमस्कारः संभवति यथा—

" नमस्यं तत्सखिप्रेम, घण्टारसितसोदरम् । क्रमकृशिमनिःसार,-मारम्भगुरुडम्बरम् ॥ १ ॥ " इति ।

कीदृशान् पादान् ? इत्याह—अनघान्=निष्पापान् निर्दूषणान् सकलनिर्म्मलशतपत्र—छत्र—चामर—मकर—द्वीप—सामुद्रादि-सल्लक्षणोपलक्षितानित्यर्थः कीदृक्षस्य श्रीरिषभसेनगणधारिणः ? प्रथममुनिपतेः, कस्य सम्बन्धिनः प्रथममुनिपतेः ?, तत्राह—रिषभजिनेन्द्रस्य, रिषभो वृषभस्तदङ्कयोगान्मातुस्तदादिस्वप्नचतुर्दशकदर्शनाद्वा रिषभनामा सप्तमकुलकराङ्गजः । जिनाः=रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्म्मजेतृत्वात्, ते च सामान्यकेवलिनोऽपि भवेयुः=तद्व्यवच्छेदाय=तत्स्वाम्यसंसूचनाय च इन्द्रग्रहणं, ततश्च रिषभश्चासौ जिनेन्द्रश्चेति कर्म्मधारयः, तस्य रिषभजिनेन्द्रस्य । पुनः किंविशिष्टस्य श्रीरिषभसेनगणधारिणः ? गुणमणिरोहणगिरेः=गुण्यन्ते=अभ्यस्यन्ते स्वीक्रियन्त ऐहिकामुष्मिकसुखजिघृक्षुभिर्मुमुक्षुभिरिति गुणाः=ज्ञान—दर्शन—चारित्राणि, एतत्ग्रहणे च शेषाणां गणधरगुणषट्त्रिंशिकानवकोक्तानामपि परिग्रहोऽत्र ज्ञेयः, गुणा एव मणयः=पर्वतोद्भवानि रत्नानि गुणमणयस्तेषां रोहणगिरिः=रत्नभूधरस्तस्य गुणमणिरोहणगिरेः । यद्वा—औदार्य—गाम्भीर्य—स्थैर्य—धैर्य—सौजन्यशालिन्य—कौलीन्यादि—क्षमा—मार्दवा—ऽऽर्जव—मुक्ति-तपः—संयम—सत्य—शौचा—ऽऽकिञ्चन्य—ब्रह्मचर्यादयो गुणा-

श्री
ऋषभसेना-
परनाम-
पुण्डरीक-
गणधरः ॥

॥ १ ॥

स्तेषां रत्नाचलः, अयमर्थः–यथा रोहणगिरिर्नानाप्रकारदारिद्र्यापहार–दुःखन्यक्कार–दौर्भाग्यतिरस्कार–विपत्सम्भारवैमुख्यकार–श्वासकासप्रकाशाङ्गह्रासज्वरभगन्दराऽर्शोऽतीसारादि–रोगातङ्कनिःशङ्कप्रचारप्रदार–प्रमुखसुखसन्दोहप्ररोहद्गुणनिधानप्रधानानणुमणीनामाकरः, तथा ज्ञानदर्शनचारित्रव्रतषट्कादि षट्त्रिंशिकानवक–देश–कुल–जातिरूप–चातुर्यौदार्य–धैर्यादि क्षमा–मार्दवाद्यखिलविमलगुणकलापस्य भगवान् श्रीऋषभसेनगणधरः प्रादुर्भावस्थानमिति ।

अथ ‘ गुणमणिरोहणगिरेः ’ ‘ प्रथममुनिपतेः ’ इति–विशेषणद्वयं कथं श्रीनाभिकुलकरकुलकमलमार्त्तण्डमण्डलस्य प्रणम्रकम्रप्रदीयस्तरविस्तरोल्लासविलासस्फारतारहारप्रकटमुकुटकुण्डलाद्यखण्डालङ्कारमण्डिताखण्डलस्य भूरिभूरितरनव्यनव्यतरभव्यभव्यतरजनमनश्चारुचचश्चातुरीरोचिष्णुचन्द्रिकाचोरचकोरताराधिपस्य भगवतः श्रीप्रथमजिनाधिपस्य न संगच्छते ?, सत्यम्, अत्यन्तपवित्रामृतकरकरनिकरमित्रचित्रचित्तचमत्कृतिकृद्विचित्रानन्तगुणरत्नरत्नाकरस्य, अश्यामाश्यामतरप्रवरप्रचुरौषधिमन्त्रादिमाहात्म्यतारतम्याश्वाशुतरग्रसनग्रसननिष्णातातुच्छमूर्च्छन्मोहाविरलगरललहरीसमुद्रावसर्पिणीकालकलाकलिता समपरीक्षदीक्षज्ञानदिवाकरस्य भगवतः किं नाम न संगच्छते, किन्तु भगवच्छिष्यस्य तादृग्विशेषणविशिष्टत्वे भगवतः समस्तप्रकृष्टान्तपरमकाष्ठनिष्ठत्वं प्रतिष्ठितं स्यात् । तथा च तात्कालिककालिकाकलङ्कविकलविमलसुधाकरकौमुदीधवलबहलपिच्छिलसुधाधवलितधवलगृहात् पृथुलाशिथिलमणिखण्डमण्डितोण्डदण्डिकाभिरामकामकामिनीरामरूपरम्या ग्राम्यकाम्या कल्पविकल्पाभरणकल्पनाऽप्सरायमाणा तन्द्रायमाणानिष्पुण्यजनदुर्लभवल्लभान्तःशोभितभागीरथीतीरतरङ्गभङ्गुरभङ्गीविभ्राजदच्छाच्छपट्टांशुकप्रच्छादनपटाच्छादितपुष्पप्रकरसुरभितसुखस्पर्शसुखासनासीनं भूरिभास्वररत्नमण्डिताखण्डितरुक्मकुण्डलकान्तिलहरी-

नरीनृत्यमानमण्यादर्शमण्डलकल्पकपोलपीनं पुरः प्रवाद्यमानामन्दानन्दकन्दलिततौर्यिकतूर्यवर्यभूरिभेरीभाङ्कारस्फारधीरगम्भीरनादसंमर्दोद्बोधबधिरीकृतदिग्चक्रवालं निर्म्मालिन्यस्वाजन्यसौजन्यरङ्गरञ्जितान्तरङ्गसङ्गचङ्गस्वात्मबहिरङ्गबहुजनसमूहपरिवारविशालं बहुविधालप्तिलिप्तवण्ठीकृतकलकण्ठकण्ठाकुण्ठकण्ठकन्दलीघोलनाप्रकारसारसारङ्गीनवनवभङ्गीगीतप्रगीतारोपिततुम्बुरुवैरूप्यसरूपाग्रेसरगायनं नितान्ताश्रान्ताश्रान्तोपयुक्तकर्प्पूरयुक्तताम्बूलरागरक्ताधरौष्ठपल्लवप्रदत्तविद्रुमदूरदेशान्तरपलायनं कञ्चनकाञ्चनगौरवर्णवर्ण्यमभ्यर्णे बहिर्निर्यान्तं निर्वर्ण्य कश्चित्कश्चन तन्मानवं पप्रच्छ—भो स्वच्छबुद्धे ! विधेहि निष्कौतुकं मामकं मनः, कथय क एष निश्शेषपुरुषशिरःशेखरः ?। स प्राह—अयममुकस्यात्मजः । ततोऽसौ चिन्तयति—अहो ! धन्योऽसौ यस्येदृशं पुत्ररत्नमजनि, नूनं स एव श्लाघासंभारचारिमाणमश्नुतीत्येवं पुत्रादपि जनकोऽतिप्रकृष्टत्वमश्नुते । एवमत्रापि विनेयविनेयस्यैतद्विशेषणद्वयविशिष्टत्वे प्रतिपादिते सति भगवतोऽतिशयेन प्रकर्षः ख्यापितो भवति, अतो रिषभसेनगणभृत एवैतद्विशेषणद्वयं विधीयमानयुक्तिसीमन्तिनीसीमन्तकरत्नाभरणभूषकत्वतुलामाकलयति । अथैतद्विशेषणद्वयं डमरुकमणिन्यायेनोभयोरपि संबध्यते, यथा—कीदृशस्य रिषभजिनेन्द्रस्य ? प्रथममुनिपतेः=आद्यमुनिनायकस्य, तथा कीदृशस्य रिषभसेनगणधारिणः ? गुणमणिरोहणगिरेः, भगवदाद्यमुनिपतेश्चेति, एतच्च प्राक् प्रदर्शितमेव । यदि वा रोहणगिरेरिति रिषभजिनेन्द्रस्य विशेषणं विधेयं, प्रथममुनिपतेरिति रिषभसेनगणधारिण इति । अपरस्त्वाह—ननु भो ! संविग्नपूर्वमुनिसंविधानकप्रतिपादनरूपं ऋषिमण्डलस्तवमस्त्येव ततः किमनेन पिष्टपेषणकल्पेनापरेण गणधरसार्द्धशतकाभिधानप्रकरणकरणेन ?, तदसत्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तत्र हि सामान्येनैव पूर्वर्षिचरितोत्कीर्त्तनमात्रमाविश्चके, अत्र तु अनेन भगवता प्रकरणकारेण प्रायेण

श्री ऋषभसेनापरनामपुण्डरीकगणधरः ॥

गणधरस्तुतिपूर्वकं श्रीयुगप्रवरागमगणधरस्तवनं नव्यानां भव्यानां शुद्धश्रद्धाभिवृद्धये समृद्धये समस्तशान्तिसिद्धये च व्यधायीति सर्वं समञ्जसम् । अत्र चाभिमतदेवतानमस्कारो नास्तीति नाशङ्कनीयः, श्रीरिषभसेनगणधरस्यैवाधुना सिद्धस्वरूपतया गुरोरपीष्टदेवतात्वेन विवादास्पदत्वाभावात्, तन्नमस्कारकरणस्य भावमङ्गलत्वमव्याहतमेव । अभिधेयं चात्र गणधरयुगप्रधानस्तवनद्वारेण तत्स्तुतिलक्षणं साक्षादेवाभिहितम्, अभिधेयस्य च प्रयोजनाविनाभावात्प्रयोजनाक्षेपो निष्प्रयोजनार्थप्रतिपादने सतां सत्त्वहानि प्रसङ्गात्, यतः—

" मुखमस्तीति वक्तव्य-मित्यसम्बद्धभाषिणः । जडाः सन्तस्तु वैयर्थ्ये, वाङ्मुद्रामुद्रिता इव ॥ १ ॥ "

प्रयोजनं च द्विविधं भवति–अनन्तरं परस्परं च, द्विधापि द्वैधं कर्तृश्रोतृभेदात्, कर्त्तुस्तावदन्तरप्रयोजनमेतत्प्रकरणार्थश्रोतृणां भव्यानां नवनवश्रद्धाकरणं, श्रोतुश्चानन्तरप्रयोजनं प्रकरणार्थपरिज्ञानं, परम्परं तु द्वयोरपि निःश्रेयसावाप्तिः । तथा गणधरयुगप्रधाननामस्तवनोत्कीर्त्तनेन संसूचित एवास्य प्रकरणस्योपायोपेयलक्षणः सम्बन्धस्तथाहि–इदं प्रकरणं विवक्षितगणधरयुगप्रधाननामतच्चरिताधिगं उपायः, गणधरनामचरिताधिगमश्चोपेयमिति । अयं च प्रकरणः श्रोतृगतः उपायोपेयसम्बन्धः, कर्त्तृश्रोतृगतस्तु भव्यश्रद्धाभिवर्द्धनमुपायः, परमपदावाप्तिस्तूपेयमित्युपायोपेयलक्षणः, सम्बन्धो बोद्धव्यः ।

अथ कथमेष ऋषभसेनः समभूत् ? इति तच्चरित्रं लिख्यते—

समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य श्रीऋषभस्य पादमूले श्रीऋषभसेनो भरत–तनयो दीक्षामुपादाय गणभृन्नामकर्म्मोदयावाप्तगणधरपदोऽन्यदा भगवता समादिष्टः—

भरसा-
म् ।
॥ ३ ॥

"पुंडरिअ! वच्चसु तुमं, सुरट्ठविसयम्मि नियगणसहिओ। महिमहिलाभालतिलओ, अत्थि गिरी तत्थ सेत्तुंज्जो ॥१॥
तम्मि समारूढाणं, दुज्जयघणघाइकम्ममुक्काणं। होही खित्तणुभावा, केवलनाणुप्पया तुम्ह ॥ २ ॥
इति निशम्य-विअसिअमुहपुंडरिओ पुंडरिओ कमलपत्तवरनयणो। भरहेसरस्स तणओ, गुणनिलओ भुवणसुपसिद्धो ॥ ३ ॥
पंचधणूसियदेहो, पयनयलेहो सगच्छपरियरिओ। पुंडरिअगणहरिंदो, सेत्तुंज्जाभिमुहमुच्चलिओ ॥ ४ ॥
गामागरपुरपट्टण-मंडबदोणमुहमंडिअं वसुहं। विहरंतो पुंडरिओ, सेत्तुंज्जमहागिरिं पत्तो ॥ ५ ॥
स चेदक्-"कत्थ य रुक्खसिलायल-निसन्नकलकंठकिन्नरोग्गीओ। कत्थइ तवणिज्जामल-सिलाही संछन्नदिसियक्को ॥ ६ ॥
कत्थ य रयणीयरकिरण,-नियरसंवलियसियसरीरेहिं। रयणीए चंदकंतेहि, [1]पयडियागालवरिसालो ॥ ७ ॥
दित्तदिवायरकरनियरतावजलिएहिं सूरकंतेहिं। कत्थ य जत्तियहिययम्मि जणियदावानलासंको ॥ ८ ॥
पुन्नागनागचंपय-कप्पूरागुरुलवंगरमणीओ। कंकोलकेलिसत्तलि,-अंबयजंबीरसंछन्नो ॥ ९ ॥
वरनागवल्लि-पुप्फलि,-फणसद्दुमदक्खमंडवाइन्नो। सारसिरिखंडमंडिय,-कडओ पवहंतनइनिवहो ॥ १० ॥
देवासुरकिन्नरजक्खसिद्धेहिं सेविओ निच्चं। गिरिकंदरझाणट्ठिय,-विज्जाहरमुणिगणसणाहो ॥ ११ ॥
अट्ठेव जोयणाइं, समूसिओ पवरओसहिसमिद्धो। दसजोयणवित्थिण्णो, सिहरे पत्तेयपन्नासं ॥ १२ ॥
एयारिसो गिरिवरो, दिट्ठो पुंडरिअपमुहसमणेहिं। हरिसभरविअसिअच्छा, आरूढा तेवि तं सेलं ॥ १३ ॥

1-प्रकटिताऽकालवृष्टिः ।

अह भणइ पुंडरीओ, साहुगणं जायगरुअसंवेगो। एसो सो विमलगिरी, जो णेग गुणकारणं भणिओ ॥ १४ ॥
मुक्खपहसामिएणं, ससुरासुरनरनमंसणिज्जेणं । धम्मधुरधवलधम्मेण परमपुरिसेण उसहेण ॥ १५ ॥
एवं च उसहसेणो, काऊणं विविहपाणिसुवयारं । विहरिअ भूमीवलए, संजुत्तो साहुसंघेण ॥ १६ ॥
चित्तस्स पुण्णिमाए, मासक्खमणेण केवलन्नाणं । उप्पन्नं सव्वेसिं, पढमयरं पुंडरीयस्स ॥ १७ ॥
निट्ठविअट्ठकम्मा, पसवजरामरणबंधणविमुक्का । सित्तुंजयम्मि सेले, पत्ता सव्वेवि परमपयं ॥ १८ ॥
गुणगरुओ गणहारी, पढमो रिसहेसरस्स पुंडरिओ। ता तप्पडिमासहिअं, भरहेण काराविअं भवणं ॥ १९ ॥
तम्मज्झे जगगुरुणो, जुगाइतित्थंकरस्स वरपडिमा । जीवंतसामिणीया, काराविआ भरहनाहेण ॥ २० ॥
काऊण परमपूअं भरहो रिसहेसरस्स भत्तीए । भत्तिभरपुलइयंगो, पत्तो सावासभवणम्मि ॥ २१ ॥

॥ इति लेशतः पुण्डरीकचरितम् ॥

अत्र च ऋषभसेनगणभृन्नमस्कारस्योपलक्षणात्, शेषाणामपि त्र्यशीतिर्गणाधीशानां प्रणामोऽन्तर्वृत्त्या प्रतिपादितो मन्तव्यः ॥ १ ॥ आद्यार्हत्प्रथमगणधरनमस्कारमाविष्कृत्येदानीं शेषतीर्थकृदशेषगणधारिणः स्तुवन्नाह—

अजिआइजिणिंदाणं, जणिआणंदाण पणयपाणीणं। थुणिमोऽदीणमणोहं, गणहारीणं गुणगणोहं ॥२॥

व्याख्या-अहं गणधारिणां गुणगणौघं स्तवै=नुवामि । कीदृशोऽहम् ? अदीनम्=अविह्वलं समस्तसुखसन्दोहप्ररोहकृ-

द्भक्तिविशेषसंश्लेषतरलितत्वान्निर्दैन्यं सत्त्वसारं मनः=आन्तरो भावो यस्यासौ अदीनमनाः । अजितादिजिनेन्द्राणां जनितानन्दानां प्रणतप्राणिनाम् । आह—ननु अजितः आदिर्येषां ते अजितादयो जिनेन्द्राः, इत्यत्रादिशब्दस्यानेकार्थत्वात्तथाहि—

सामीप्ये च व्यवस्थायां, प्रकारेऽवयवे तथा । आदिशब्दं तु मेधावी, चतुर्ष्वर्थेषु लक्षयेत् ॥ १ ॥ इति ।

तदिह कस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तमानस्य ग्रहणम् ?, उच्यते—(१) न तावत्सामीप्यार्थस्य ग्रहणं, तद्ग्रहणे हि यथा 'ग्रामादौ घोषः' इत्यत्रोपलक्षणीभूतत्वाद्ग्रामस्य ग्रामसमीपो देशः परिगृह्यते, एवमत्रापि सामीप्यार्थादिशब्दोपादाने अजितस्वामिसमीपवर्त्तिनां जिनेन्द्राणां सम्बन्धिनां गणधराणां गुणगणौघं स्तवीमीत्ययमर्थः स्यात्, न चैष घटते, न चैकस्य तीर्थकृतः सन्निधावपरस्य विद्यमानत्वेन सिद्धान्ते प्रतिपादनात् । तथा चाश्चर्यदशकमध्ये "कण्हस्स अवरकंका" इत्यनेन कृष्णस्य द्वीपान्तरगमने दूरादुत्तमपुरुषद्वितयपताकादर्शन—शङ्खशब्दश्रवणमात्रस्यापि महाश्चर्यरूपत्वं प्रतिपाद्यते । आस्तां तावत्—सामीप्यं । (२) व्यवस्थार्थोऽपि नैव, व्यभिचारात्, अजितस्वाम्यादयो हि जिनाः क्रमसिद्धा एव किं तत्र व्यवस्थया ? । (३) प्रकारार्थोऽपि न युक्तिसीमन्तिनीसीमन्तकमाणिक्यमालिकाकल्पत्वमुपकल्पयति, तथाहि—प्रकारः सादृश्यं, तच्चाजितसंभवादीनां परस्परं च्यवनविमाननगरीजनकाद्येकविंशतिस्थानादिस्थानवैसदृश्यं बिभ्राणानां कथं नाम संभवेत् ?, यच्चैकसादृश्यमर्हतामुपगीयते तच्चतुस्त्रिंशदतिशय—पञ्चत्रिंशद्वचनातिशयशक्त्याद्यपेक्षमवगन्तव्यम् । (४) अवयवार्थे तु आदिशब्दे गृह्यमाणे नास्ति विवादः, अजित एवादिरवयवो येषां जिनेन्द्राणामिति । ननु अत्र पक्षे महान् विसंवादः, नहि जिनानामजितादयोऽवयवा भवितुमर्हन्ति, अवयवा हि पाणिपादादय एव संगच्छन्ते ?, सत्यं, 'जिनाना'मित्यन्तर्वृत्त्या भगवतः सूत्रकारस्य त्रयोविंशतिकाऽभिप्रेता,

तस्याश्च रत्नमालाया इव रत्नान्यजितादयोऽवयवा भवन्त्येव तत्कोऽत्र विसंवादः ? अलमतिप्रसङ्गेन । अथवा आदिशब्दो व्यवस्थार्थो यथा—"ब्राह्मणादयो वर्णाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्ररूपेण व्यवस्थिताः" इति, एवमत्रापि—अजितादयो वीरपर्यन्ताः क्रमेण लब्धव्यवस्थास्तीर्थकृतस्तेषामजितादिजिनेन्द्राणाम् । कीदृशानाम् ? 'जणिआणंदाण पणयपाणीणं' प्रणतप्राणिनां=नम्रभव्यलोकानां जनितः=उत्पादितः आनन्दः=प्रमोदो यैस्ते जनितानन्दास्तेषाम् । यदि वा—'जणिआणं'ति जनिर्जन्म तं घ्नन्ति खण्डयन्तीति जनिदास्तेषां जनिदानाम् । तथा 'दाणपणयपाणीणं'ति, दाने वितरणे प्रणयः प्रीती रसो ययोस्तौ दानप्रणयौ तादृक्षौ पाणी=हस्तौ येषां ते दानप्रणयपाणयस्तेषाम् । यदि हि दानरसिककरा=स्तीर्थकरा न भवेयुस्तदा कथमत्यन्तदीक्षाभिमुखा अपि वर्षं यावदवतिष्ठेयुः ? सकललोकस्य च दानमपि दद्युः ?, इति । अनेन विशेषणद्वयेन द्वयं प्रतिपादितं भवति, तथाहि—'जनिदानां' इत्यनेन सकलकर्म्मनिर्मूलनक्षमक्षेमकारिनित्यानन्दज्ञानशक्तिनिधानमोक्षसौख्यप्रापकत्वम्, 'दानप्रणयपाणीनां'—इत्यनेन चैहिकसमग्रसातसम्पत्प्रदत्वमर्हतामावेदितम् । एतेन 'अनन्तगुणरत्नरत्नाकराणां तीर्थङ्कराणां किमर्थमेतद्विशेषणद्वयम्' एतदपि नोद्यं निरस्तम् । अथ 'थुणिमो' इत्यस्य क्रियापदस्य पश्चान्निर्देशप्राप्तावपि यत्पूर्वभणनं तत्स्तुतिस्तवनस्य महाफलप्रदर्शनार्थम् । 'स्तवै' इति वर्त्तमानकालभणनाद्भविष्यत्कालकथने माभूत्प्रमादस्य क्षणमप्यवकाश इत्यभिप्रायः । ननु स्तवनं पदवाक्यैः सद्गुणोत्कीर्त्तनरूपं, ततः 'स्तवै' इत्यभिधानस्य स्तवनवचनाप्रतिपादनादाकाश-[कुशम्]कुशेशयकृतशेखरवन्ध्यातनयसाम्यमेव समेति ?, मैवम्, स्तवनं हि भावतः श्लाघनरूपं, श्लाघा च मानसिकी वाचिकी कायिकी चेति त्रिधा, सा च त्रैधापि भगवतः सूत्रकारस्य वरीवर्त्तते, तथाहि—प्रथमतो मनोव्यापारसंभवान्मानसिकी तावत्स्फुटै-

वावगम्यते, मनःप्रेरणापूर्वकत्वाद्वाचः कायचेष्टयोर्वाचिकी–कायिक्यावपि अवगन्तव्यः । दीनं च तन्मनश्च दीनमनः, तद्घ्नन्तीति दीनमनोहस्तम् इति व्युत्पत्त्या [गणधारिणो] गणधारिगुणगणौघस्य वा विशेषणम् । ननु 'गणौघ'–शब्दयोरमर–देवयोरिव पर्यायशब्दत्वात्कथमुभयोपादानम् ?, न वाच्यमेतत्, अर्थभेदस्योपलब्धेस्तथाहि–गणः=सङ्घः, ओघः=प्रवाहस्ततश्च–गुणानामौदार्यधैर्यादीनां गणः=समूहस्तस्यौघः=प्रवाहोऽनवच्छिन्नसन्तान इति यावत्, तं गुणगणौघम् । अथवा–" ओघो वृन्देऽम्भसां रये " इति (अमर० नाना०) वचनादस्तु वृन्दार्थ ओघशब्दस्तथाप्येकैकस्य गणभृतो गुणगणविवक्षया बहुत्वाद्गुणगणानामोघः=समूहस्तम् । यदिवा–'गुरुगुणोहं' इति पाठस्तदा न विसंवादः । इति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ सामान्यतः सत्यामपि नमस्कृतौ श्रीवर्त्तमानतीर्थाधिपतेर्गणधारिणो विशेषतो गाथात्रयेण नमस्कारमाह—

सिरिवद्धमाण वरनाणचरणदंसणमणीण जलनिहिणो ।
तिहुअणपहुणो पडिहणिअसत्तुणो सत्तमो सीसो ॥ ३ ॥

संखाईए वि भवे, साहिंतो जो समत्तसुअनाणी । छउमत्थेण न नज्जइ, एसो न हु केवली होइ ॥४॥
तं तिरिअ-मणुय-दाणव, देविंदनमंसियं महासत्तं । सिरिनाणसिरिनिहाणं, गोयमगणहारिणं वंदे ॥५॥

व्याख्या—तं गौतमगणधारिणं वन्दे इति सम्बन्धः । यः कीदृशः ? सत्तमः=अतिशोभनः शिष्यः=विनेयः । कस्य ? इत्याह–श्रीवर्द्धमानस्य वरज्ञानचरणदर्शनमणीनां जलनिधेरिति, तत्र श्रियोपलक्षितो वर्द्धमानः, वर्द्धते=स्फायते मणिरत्न-

सुवर्णादिकं गर्भस्थिते यस्मिन् सिद्धार्थभवने, इति व्युत्पत्त्या यथार्थाभिधानस्तस्य वर्द्धमानस्य, षष्ठीलोपः प्राकृतत्वात् । किं विशिष्टस्य ? वराणि=सर्वोत्तमानि यानि ज्ञानचरणदर्शनानि तान्येव मणयो=रत्नानि तेषां जलनिधेः=समुद्रस्य, यथा समुद्रः पुष्पकादिचतुर्दशानां लोकप्रसिद्धानां, तथाऽन्येषां वज्रेन्द्र-नील-मरकतादीनां रत्नानां भवत्युत्पत्तिस्थानम्, एवं वर्द्धमानोऽपि ज्ञानादिप्रभवः, ततोऽन्यत्र सकलज्ञानाद्यसद्भावात् । अत्र च ज्ञानानन्तरं दर्शनस्य क्रमात्पाठे प्राप्ते पश्चात्पाठो गाथाभङ्गभयात् । पुनः किम्भूतस्य ? त्रिभुवनप्रभोः=त्रिलोकीनायकस्य । पुनः किं विशिष्टस्य ? प्रतिहतशत्रोः=समूलकाषङ्कषितकर्म्मवैरिणः । विशेषणत्रितयमध्यादाद्यविशेषणेन ज्ञानादिरत्नैः समुद्रसारूप्येण स्वयमनिष्ठितरत्नाकरत्वेन सेवकलोकरत्नवितरणेन च स्वार्थपरार्थसम्पत्ती दर्शिते भवतः । कश्चित्स्वपरार्थनिरतोऽपि नीचतरमात्रस्याधिपतिर्न भवति, भगवतस्तु न तादृग्रूपत्वमिति द्वितीयं विशेषणमाह-‘ त्रिभुवनप्रभोः ’ इति, अनेन च जनाराध्यत्वमाह । एवंविधोऽपि कोऽपि निहतान्तरशत्रुर्न भवति तत्राह-‘ प्रतिहतशत्रोः, ’ एतेन च तृतीयविशेषणेन मुक्तिकान्ताश्लेषयोग्यत्वमाह । एवं सर्वोत्कृष्टस्य गुरोः शिष्यभावे श्रीगौतमस्य विशेषनमस्कारार्हतामाचष्टे । ननु यदि ‘ घृतं सुरभि ’ तदा गोमयस्य किमायातम् ?, यदि गुरुर्ज्ञानादिपवित्रगुणपात्रं ततश्च किमेतावता स्तब्धत्वादिदोषदुष्टस्य शिष्यस्याराध्यता स्यात् ? तद्यद्येषोऽपि तादृशस्तदा कथङ्कारं नमस्कारं न स्वीकुर्यात्, ? मैवं, नहि केवलालोकालोकितसमस्तवस्तुजाताः भगवन्तः अयोग्याय दीक्षां ददति तस्मात्तद्धस्तपद्मदीक्षितत्वादवश्यं नमस्कृत्य एवायमिति । किञ्च-कथमेष नमस्करणीयः स्याद् यः समस्तश्रुतपारगश्छद्मस्थस्य स्वात्मनि केवलिनस्तुलामवस्थापयति ? इत्याह-‘ संखाईएवि भवे ’ इत्यादि, सङ्ख्यातीतानपि=गणनातिक्रान्ता-

नपि भवान्=जन्मानि साधयन्=प्रतिपादयन् यः समस्तश्रुतज्ञानी=सकलश्रुतसागरपारगतो द्वादशाङ्गस्रष्टेत्यर्थः, छद्मस्थेन=मतिज्ञानाद्यन्तर्वर्त्तिना न ज्ञायते=न लक्ष्यते यदुत एष केवली न भवति, 'हुः' पूरणे, अयमर्थः–एवं नाम यो भगवान् प्रश्नसमनन्तरमेव त्वरितत्वरितं श्रुतज्ञानबलेन तत्क्षणादुपलभ्यासङ्ख्यातान् भवान् कथयति, येन छद्मस्थैः केवलज्ञानवानेवावगम्यते, न छद्मस्थ इति । तं 'तिर्यग्मनुज–दानव–देवेन्द्रनमस्कृत'मिति सुगमम् । महासत्त्वं=महावीर्यं, श्रीज्ञानश्रीनिधानम् । ननु पूर्वं समस्तश्रुतपारगत्वप्रतिपादनेनैव श्रीज्ञानश्रीनिधानत्वमित्यवसितं तस्मात्पुनरुक्तदोषोऽयम्?, सत्यम्, अस्ति पौनरुक्त्यं न तु दोषः, तस्य शास्त्रान्तरे भूयः सद्भूतगुणोत्कीर्त्तने अदूषणत्वेन प्रतिपादनात्, तथा चोक्तम्—

"सज्झायज्झाणतवो, ओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणेसुं, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ १ ॥"

अथवा–'समस्तश्रुतज्ञानी'–ति विशेषणं भगवतश्छद्मस्थावस्थस्य, 'श्रीज्ञानश्रीनिधान'मिति विशेषणं केवलज्ञानावस्थस्येति न पौनरुक्त्यम् । तमेवम्भूतं गौतमगणधारिणं वन्दे=नमामीति संक्षेपेण गाथात्रयार्थः ।

अथ यथायं श्रीवर्द्धमानस्वामिनः शिष्यत्वं प्रतिपन्नस्तच्चरितं शेषगणधरदशकमध्यवर्त्तित्वेन प्रसिद्धत्वान्न लिखितम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ जम्बूस्वाम्याद्यशेषगणधरसन्तानस्यादिकारणत्वेन श्रीसुधर्म्मस्वामिगणधरं नमस्कुर्वन् गाथायुगलमाह—

जिणवद्धमाणमुणिवइ,-समप्पिआसेसतित्थभरधरणेहिं[ण]।पडिहयपडिवक्खेणं,जयम्मि धवलाइयं जेण।

तं तिहुअणपणयपया-रविंदमुद्दामकामकरिसरहं । अणहं सुहम्मसामिं, पंचमठाणट्ठिअं वंदे ॥ ७ ॥

व्याख्या—तं सुधर्मस्वामिनं वन्दे=नमस्करोमीति सम्बन्धः। येन किम् ?, धवलायितम्, धवलो=वृषभस्तद्वदाचरितम्। क ?, जिनेन=रागादिदोषद्वेषिजैत्रेण वर्द्धमानाभिधानेन मुनिपतिना=चतुर्दशसहस्रवाचंयमदानंदुर्ललितदक्षिणहस्तेन समर्पितो=न्यस्तः अशेषः=समस्तो योऽसौ तीर्थस्य=सङ्घस्य प्रवचनस्य च भरो-भारः शिरःस्कन्धादिवहनयोग्यः पदार्थ इति यावत्, तस्य धारणं=मर्यादया व्यवस्थापनं सम्यगविच्युत्या हृदयेन वहनं —जिनवर्द्धमानमुनिपतिसमर्पिताशेषतीर्थभरधरणं, तत्र। अयमभिप्रायः-किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना सत्सु श्रीगौतमादिगणभृत्सु योग्येष्वपि आयुर्द्राघीयस्त्वादिविशेषयोग्यतामाकलय्य पञ्चमस्थानवर्त्तिसुधर्म्मस्वामिनि समग्रसङ्घप्रवचनभारः समारोपितः, तत्र चारोपितप्रवचनसङ्घप्राग्भारे धवलधौरेयायितं सुधर्म्मस्वामिना। तं त्रिभुवनप्रणतपदारविन्दं=विष्टपत्रयनतक्रमकमलम्। पुनः कीदृक्षम् ? उद्दामः=उच्छृङ्खलो यः काम एव=मदन एव मदोन्मत्तत्वात्करी=हस्ती तत्र सरभः=अष्टापदस्तम्। त्रिभुवनप्रणतपदारविन्दत्वे हेतुरिदं विशेषणम्, अतश्च हेतुहेतुमद्भावेनेदं विशेषणद्वयम्-यस्त्रिभुवनप्रणतपदारविन्दः स च उद्दामकामकरिसरभ एव स्यादिति। अथ 'कामकरिसरभम्' इत्यत्र सत्यपि हर्यक्षे सरभोपादानं तत् कदापि कर्यपि हरिं पातयति परं न सरभमिति तद्ग्रहणम्। पुनः किंविधम् ?, न विद्यते अघं=पापं यस्य तम्-अनघम्। अत्र च पापोच्छेदः पुण्योच्छेदस्योपलक्षणं ततश्चोभयक्षये 'अनघ'मित्यनेन पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्तिरिति [द्योतितम्]। अत्रापि हेतुहेतुमद्भावोऽनुसरणीयः-यत एव उद्दामकामकरिसरभमत एवानघं सकलक्लेशभूरुहमूलत्वाद्रागस्य, ततश्च तन्निर्मूलने सुलभैव निःक्लेशलेशपदावाप्तिरतः अनघं=मोक्षपदप्राप्तमित्यर्थः। पुनः

कथम्भूतम् ? पञ्चमस्थानस्थितम्, पञ्चमस्थाने इन्द्रभूत्यादेः स्थितं=व्यवस्थितम्। अथवा अनघत्वादेव पञ्चमस्थानं=पञ्चमगतिस्तत्र स्थितं मुक्तिप्राप्तमिति। एतच्चरितमपि गणधरचरित्रे ज्ञेयं, विशेपस्त्वयम्–" परिनिव्वुआ गणहरा, जीवंते नायए नव जणा उ। इंदभूई सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥ १ ॥" इति गाथाद्वयार्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥

अधुना सुधर्म्मस्वामिपट्टोदयाचलचूलावलम्बिरविबिम्बप्रतिबिम्बं श्रीजम्बूस्वामिनं(गणधरं) नमस्कुर्वन् गाथात्रितयमाह—

तारुण्णे वि हु णो तरलतार-अद्धच्छिपिच्छरीहिं मणो। मणयं पि मुणिअपवयण-सब्भावं भामिअं जस्स।

मणपरमोहिप्पमुहाणि, परमपुरपत्थिएण जेण समं।

समइक्कंताणि समग्गभव्व—जणजणिअसुक्खाणि ॥ ९ ॥

तं जंबुनामनामं, सुहम्मगणहारिणो गुणसमिद्धं। सीसं सुसीसनिलयं, गणहरपयपालयं वंदे ॥१०॥

व्याख्या—जम्बूनामेति नाम यस्य स जम्बूनामनामा, तं वन्दे=प्रणिपतामीति सम्बन्धः। यस्य भगवतस्तारुण्येऽपि=यौवनेऽपि आस्तामन्यावस्थायामित्यपि शब्दार्थः, नो=नैव तरले=यौवनोद्भेदवशोच्छ्वसितमन्मथाभिलापाच्चटुले तारके=कनीनिके ययोस्ते तरलतारके, ते च ते अर्द्धे च अविकसिते च। एवंविधे ये अक्षिणी–लोचने ताभ्यां प्रेक्षन्ते=विलोकन्ते इत्येवंशीलास्तरलतारकार्द्धाक्षिप्रेक्षिण्यस्ताभिस्तरलतारकार्द्धाक्षिप्रेक्षिणीभिर्वधूभिरिति गम्यते मनो=हृदयं मनागपि=ईषदपि तिलतुषत्रिभागमात्रमपि आस्तां समस्तमित्यपि शब्दार्थः, भ्रामितं=क्षोभितं चालितमित्यर्थः, किमिति ? यतो मुणितप्रवचनसद्भावं=

ज्ञातसिद्धान्ततत्त्वम् । अयमभिप्रायः—येन पुण्यात्मना "विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ १ ॥ अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविअ पेहिअं । इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ २ ॥" इत्यादिसिद्धान्त(दशवैकालिकसूत्र)वचनानां रहस्यं सम्यग् ज्ञातं भवति परिणमितं च, नासौ भवानन्दिभिः स्त्र्यादिभिः कथञ्चिदपि वञ्च्यते, अतो मुणितप्रवचनसद्भावमिति हेतुगर्भं विशेषणमवगन्तव्यम् । तथा येन समं=सार्द्धं समतिक्रान्तानि=गतानि, कानि ? मनःपरमावधिप्रमुखाणि, तत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'मण' इत्युक्ते मनःपर्यायज्ञानं गृह्यते, तत्र मनःपर्यायज्ञानमर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्तिसञ्ज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम् । 'परमोहि' त्ति परमावधिः-परमः उत्कृष्टः स चासौ अवधिश्चेति परमावधिः, यत्रान्तर्मुहूर्त्तानन्तरं केवलज्ञानमुत्पद्यते, मनःपरमावधी प्रमुखे=आदौ येषां पुलाकलब्ध्याहारकलब्धि-क्षपकश्रेणिप्रमुखाणामुत्तमवस्तूनां तानि मनःपरमावधिप्रमुखाणि, तथा चोक्तमागमे—

"मण १ परमोहि २ पुलाए ३, आहारग ४ खवग ५ उवसमे ६ कप्पे ७ ।
संयमतिअ ८ केवल ९ सिज्झणा १० य जंबुम्मि वुच्छिन्ना ॥ १ ॥"

अथ पुलाकः, एतदर्थानुवादिनी गाथेयम्—

"धन्नमसारं भन्नइ, पुलायसद्देण तेण जस्स समं । चरणं सो हु पुलाओ, *लद्धीसेवाहि सो य दुहा ॥ १ ॥"

तत्र लब्धिपुलाको यथा—

---

* लब्ध्यासेवनाभ्याम् ।

“ संघाइयाण कज्जे, चुन्निज्जा चक्कवट्टिमवि जीए। तीए लद्धीए जुओ, ‘ लद्धिपुलाओ ’ मुणेयवो ॥ १ ॥ ”

(आसेवनापुलाको यथा—)

“ आसेवणापुलाओ, पंचविहो नाणदंसणचरित्ते। लिंगम्मि अहासुहुमे, य होइ आसेवणानिरओ ॥ २ ॥ ” इति।

एतल्लब्धिश्च। अथाहारकम्—आह्रियते–चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फीतिदर्शनादिक–तथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशान्निर्वर्त्यते इत्याहारकं, यदुक्तम्—

“ तित्थयररिद्धिसंदंसणत्थमत्थावगमणहेउं वा। संसयवुच्छेअत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि ॥ १ ॥ ”

क्षपकश्रेण्युपशमश्रेणी प्रसिद्धे। ‘कप्पे’ त्ति जिनकल्पः। तथा ‘संयमतिअ’ त्ति संयमत्रिकं=परिहारविशुद्धि–सूक्ष्मसंपराय–यथाख्यातलक्षणम्, एतत्स्वरूपं शास्त्रान्तरादवगन्तव्यम्। ‘केवल’ त्ति केवलम्=एकं मत्यादिज्ञानरहितत्वात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं तत्प्रथमतयैव शेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलम् अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्, यथावस्थिताशेषभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासि ज्ञानम्। तथा ‘सिज्झण’ त्ति सिद्धिः सकलकर्म्मक्षयेण परमपदावाप्तिः। ततश्चादिशब्दावरुद्धान्येतानि स्थानानि। येन कीदृशेन? इत्याह–‘परमपुरपत्थिएणं’–ति परमपुरमत्र प्रस्तावात्सिद्धिपुरं तत्र प्रस्थितेन=प्रचलितेन। कीदृशानि मनःपरमावधिप्रमुखाणि? समग्रभव्यजनजनितसौख्यानि–समग्रभव्यजनानां=निःशेषासन्नसिद्धिकभविकलोकानां जनितम्=उत्पादितं सौख्यं–शर्म्मभावो यैस्तानि तथा। कीदृशं जम्बूनामानम्? इत्याह–शिष्यं=विनेयं, कस्य? सुधर्मगणधारिणः=श्रीसुधर्म्माभिधान-

गणभृतः । कीदृग्विधं शिष्यम् ? इत्याह–गुणसमृद्धम्–गुणैः=अनुवर्त्तकत्व–विनीतत्व–बहुक्षमत्व–नित्यगुरुकुलवासित्व–गुरुजनामोचित्व–सुशीलत्व–प्रज्ञापनीयत्व–श्रद्धापरत्व–मधुरभाषित्व–निभृतस्वभावत्व–विकथामुक्तत्व–गुरुगुणानुरागित्व–क्रियापरत्वप्रभृतिभिः समृद्धं=स्फीतं ऋद्धिमन्तमित्यर्थः । अयमभिप्रायः–सन्तो हि सुधीमत्त्व–क्षमित्व–विनयत्व–जितेन्द्रियत्व–विवेकित्व–कृतज्ञत्व–सलज्जत्व–सदयत्व–सौम्यत्व–परोपकृतिकर्म्मठत्वा–न्तरवैरिवारपराजयपरत्व–कुकर्म्मभीरुत्व–परावर्णवादमूकत्व–परपीडापरिहारत्वा–ऽक्षुद्रत्वा–ऽशठत्व–दाक्षिण्यमहोदधित्व–सरलस्वभावत्व–धैर्यत्व–स्थैर्यत्व–गाम्भीर्यत्वौ-दार्यत्व–गुरुशुश्रूषालाम्पट्य–सततसाधुनैकट्या–त्मोत्कर्षत्यागित्व–परपराभववैमुख्य–परर्द्धिदर्शनसौमुख्य–दृढसौहृदत्व–सत्यभाषित्वा–ऽद्रोहकत्व–मध्यस्थत्व–गुणानुरागित्व–सुदीर्घदर्शित्व–विशेषज्ञत्व–भावलक्षित्व–विद्याव्यसनित्व–स्वयोपिद्रतत्व–लोकापवादसभयत्वा–ऽसत्सङ्गविरतत्व–धार्म्मिकलोकसुबन्धुबुद्धित्व–हास्यभाषित्वा–ऽनुत्तानत्व–शुचिशीलत्व–सर्वकार्यानुत्सुकत्व–सन्तोपसारत्वन्यायसुन्दरत्व–पूर्वसत्पुरुषानुसारिप्रवृत्तिमत्व–प्रमुखगुणानामेव समृद्धिं स्पृहयन्ति, न त्वमात्य–दण्डनायक–युवराज–महाराज–सार्वभौम–चक्रवर्त्ति–बलदेव–वासुदेव–देवेन्द्रादि–हस्त्यश्व–रथ–प्रदातिलक्षणलक्षकोटिसंख्याप्रोत्तुङ्गचतुरङ्गसैन्यविजितसुराङ्गनारूपसरूपसहस्रप्रमाणान्तःपुर–पुर-पत्तन–निगम–ग्राम–नगराकरखेडकर्वटमडम्बद्रोणमुखाद्यधिष्ठानद्वात्रिंशन्मुकुटबद्धराजसहस्राधिपत्य–धन–धान्य–द्विपद–चतुष्पद–मणि–रत्न–रजत–सुवर्णादिप्रचुरद्रव्यसम्भारसमृद्धिम्, तथा चोक्तम्—

“ इक्के लहुअसहावा, गुणेहिं लहिउं महंति धणरिद्धिं । अन्ने विसुद्धचरिआ, विहवेहिं गुणे[हिं] वि मग्गंति ॥ १ ॥ ”

ततश्चानुवर्त्तकत्वादिगुणकलापमुक्ताकलापालङ्कृतगात्रलतिका एव विनेयाः सर्वत्र श्लाघां लभन्ते । ये तु न पूर्वोदित-

गुणकदम्बकसंवृत्ताङ्गः किं तर्हि ? स्वच्छाः=अनुपलिप्तकषायिणो [illegible] [illegible] [illegible] वक्रोक्तिवाक्यरचनाचातुरीधुरीणा, हेतुयुक्तिकनिनादि [illegible] [illegible] नोत्कृष्टभाषिणो गुरोरकिञ्चित्कारिणः, किं बहुना–प्रागुक्तानुक्तगुणस्थानपर्यन्तभाजो [illegible] सुशिष्याः । तदेतस्य पुनर्भगवतो जम्बूनामनाम्नो [illegible] [illegible] समस्तगुणगणनिधेः किं तत्कथ्य-मस्तीति । पुनः कीदृशम् ? सुशिष्याणां=शोभनविनेयानां तिलकम्=आभरणम् [illegible] [illegible] । पाठान्तरे ('सुसीसतिलयं' ति) सुशिष्याणां तिलकं=पुण्ड्रमिव । पुनः किं विधम् ? [illegible] [illegible] गाथात्रयस्यार्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ प्रभवस्वामिनं नमस्कुर्वन्नाह—

संपत्तवरविवेयं, वयरत्थिगिहिं जंबुनामवयणाओ । पालिअजुगपवरपयं, पभवायरिअं सया वंदे ॥११॥

व्याख्या—प्रभवाचार्यं सदा वन्दे=शिरसा नमस्करोमि । कीदृशम् ? संप्राप्तो=लब्धो वरो=विशिष्टतरो विवेको=हेयानां–प्राणातिपाता–नृतभाषणा–दत्तग्रहण–मैथुन–परद्रोह–परस्त्रीगमन–मातापितृस्वामिगुरुघातन–निशा–दि–वृश्चिक–कण्टक–वैरि–दावानलसिंह–व्याघ्र–कुमित्र–कुकलत्रादीनां, स्त्री–गन्ध–माल्य–मणि–रत्न–भूषण–राज्य–साम्राज्य–शय्या–ज्यासनः–पान–स्नान–शब्द–रूप–रस–गन्ध–स्पर्शाद्यविषयोपभोगादीनां च संसारकारणानाम्, उपादेयानां च—क्षमा–मार्दव–आर्जव–मुक्ति–तपः–संयम–सत्य–शौचा–किञ्चन्य–ब्रह्मचर्य–गुरुवचनाराधनादीनां परिज्ञानं येन स तं संप्राप्तवरविवेकम् । पुन एवं विधम् ?

इत्याह—व्रतार्थिगृहिजम्बूनामवचनात्, व्रतार्थी=प्रातःक्षण एव दीक्षां जिघृक्षुर्यो जम्बूनामा तस्य प्रबोधकं यद्वचनं=वाक्यं तस्मात् । पुनः किं विशिष्टम् ? पालितं युगप्रवरस्य जम्बुनाम्नः स्वगुरोः पदं येन स तथा तमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥

" आत्तं पञ्चाशदब्देन, सुधर्म्मस्वामिना व्रतम् । त्रिंशदब्दीमथाकारि, शुश्रूषाचारमर्हतः ॥ १ ॥
मोक्षं गते महावीरे, सुधर्म्मा गणभृद्वरः । छद्मस्थो द्वादशाब्दानि, तस्थौ तीर्थं प्रवर्त्तयन् ॥ २ ॥
ततश्च द्वानव(९२)त्यब्दी,–प्रान्ते संप्राप्तकेवलः । अष्टाब्दी विजहारोर्व्यां, भव्यसत्त्वान् प्रबोधयन् ॥ ३ ॥
प्राप्ते निर्वाणसमये, पूर्णवर्षशतायुषा । सुधर्म्मस्वामिनाऽस्थापि, जम्बूस्वामी गणाधिपः ॥ ४ ॥
तप्यमानस्तपस्तीव्रं, जम्बूस्वाम्यपि केवलम् । आसाद्य सदयो भव्य–भविकान् प्रत्यबूबुधत् ॥ ५ ॥
श्रीवीरमोक्षगमनादपि हायनानि, चत्वारि षष्ठिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः ।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य, कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ॥ ६ ॥"

एतत्कथानकषोडशकानुस्मरणार्थं चेमे गाथे—

" करिसग १ हत्थिकडेवर २, वानर ३ इंगालदाहग ४ सियाले ५ ।
विज्जाहरे ६ य धमए ७, सिलाजऊ ८ दोय थेरीओ ९ ॥ १ ॥
आसे १० गामउडसुए ११, वडवा १२ तह चेव मुद्धसउणे १३ य ।
तिन्नि अ मित्ता १४ माहणसुआ १५ य ललिअंगए १६ चरमे ॥ २ ॥"

नवनवइकणयकोडी, चइऊणं तह य अट्ठ रमणीओ। गहिऊण संजमं जंबु-सामिणा साहिअं कज्जं ॥ ३ ॥

॥ इति संक्षेपतश्चरितम् ॥

अथ क्रमायातं श्रीशय्यम्भवाचार्यं नमस्यन्नाह—

कट्ठमहो ! परमेयं, तत्तं न मुणिज्जइत्ति सोऊणं। सिज्जंभवं भवाओ, विरत्तचित्तं नमंसामि ॥ १२ ॥

व्याख्या—'अहो' इति परेषां सम्बोधनम्, कष्टं=दुःखं=परं=प्रकृष्टम् एतत्, यत्किम्? इत्याह—तत्त्वं=परमार्थो 'न मुणिज्जइ' त्ति न ज्ञायते, इति वचनं श्रुत्वा=आकर्ण्य भवाद् विरक्तचित्तं=वैराग्यपरवशमानसं श्रीशय्यम्भवाचार्यं नमस्यामि=नमस्करोमीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

एतच्चरितमेवम्—

एकदा हि श्रीप्रभवस्वामिना पश्चिमरात्रौ स्वाध्यायश्रमसुप्ते साधुवर्गे योगनिद्रास्थेन चिन्तितम्—मदनु को भविता गणधरः?, इति विचिन्त्य स्वगणे सङ्घे चोपयोगे दत्ते तादृशमपश्यन् परदर्शने दत्तोपयोगो राजगृहे वत्सकुलोद्भवं यजन्तं द्विजं शय्यम्भवं प्रवचनधुराधवलधौरेयं दृष्ट्वा तत्रायातो भगवान्, आदिष्टौ मुनी—यातं युवां यज्ञपाटके, अदित्सावादिभिर्द्विजादिभिः प्रस्थाप्यमानाभ्यां युवाभ्यां वाच्यमीदृशम्—"अहो! कष्टमहो! कष्टं तत्त्वं विज्ञायते नहि"। पुनरेवम्। इत्यादिष्टौ प्रविष्टौ मुनी भिक्षाग्रहणकाले यज्ञपाटके। तत्र श्रमणद्वेषिभिर्भिक्षामदित्सुभिर्भट्टचट्टैः—'अरे! श्वेतपटौ! कुत्रात्र प्रविष्टौ, निर्गच्छतं न कोऽपि दास्यति युवयोर्भिक्षाम्' इति विसृष्टौ स्वगुरूपदिष्टमूचतुः—"अहो! कष्टं तत्त्वं-न ज्ञायते"। इति तद्वचो द्वारस्थेन शय्य-

म्भवेनाकर्ण्य चिन्तितम्–'अहो ! अमी उपशमप्रधाना महात्मानो न मृषावादिनः, तत्त्वे संदेग्धि मे मनः' इति विचिन्त्यागत्योपाध्यायः पृष्टः। सोऽपि 'वेदास्तत्त्वम्' इत्युक्ते शय्यम्भवोऽभ्यधात्–प्रतारयसि दक्षिणालोभेन, वीतरागा मुनयो न वदन्ति वितथं, न गुरुस्त्वं, यथावस्थितमाख्याहि तत्त्वं, नो चेच्छेत्स्यामि ते शिरः "न हत्या दुष्टनिग्रहे" इति भणंश्चकर्षासिं कोशात्। उपाध्यायोऽपि दध्यौ–मिमारयिषुरेष मां, तत्त्वकथनसमयः, यतः—"कथ्यं यथातथं तत्त्वं, शिरश्छेदे हि नान्यथा।" इति विचिन्त्याचक्षावुपाध्यायः—'अमुष्य यूपस्याधः प्रतिमाऽर्हतस्तत्प्रभावान्निर्विघ्नं यज्ञकर्म्म' इति श्रुत्वा, दत्त्वा च स्वर्णभाजनादि यज्ञस्योपकरणान्युपाध्यायाय, स्वयं तु महर्षीं गवेषयन् तत्पदैरेव गतः प्रभवस्वामिपादान्ते, वन्दित्वा वक्ति–ब्रूत मोक्षकारणम्। गुरुभिरपि साधुधर्म्मं श्रावितः प्रव्राजितश्च, क्रमेण गुरुशूश्रुषां कुर्वाणि जातश्चतुर्दशपूर्वी।

अथ—"श्रुतज्ञानादिना तुल्यं, रूपान्तरमिवात्मना। प्रभवस्तं पदे न्यस्य, परलोकमसाधयत् ॥ १ ॥"

अथ यदा शय्यम्भवो दीक्षामग्रहीत्तदा लोकस्तद्भार्यामपृच्छत्–किं तवोदरे गर्भसंभावनाऽस्ति ?, साऽवदत् मनागिति। क्रमेण सुते प्रसूते प्राकृतभाषया 'मणय' इति भणनात् 'मणक' इति नामाभूत्। स चान्यदा मातरमविधवावेषेण पश्यन् पप्रच्छ–'क्व मे पिता ?,' मात्रोक्तम्–'त्वय्युदरस्थे श्वेताम्बरोऽभूत् मयैव त्वं पालित इयन्ति वर्षाणि' इति वचो निशम्य पितृदर्शनोत्कः स्वमातरं वञ्चयित्वा निर्गतो गेहात्। तदा च शय्यम्भवाचार्यश्चम्पायां विहरति स्म। मणकोऽपि पुण्याकृष्ट इव तत्रायतौ, कायचिन्तादिना सूरिः पुरीपरिसरे व्रजन् बालं ददर्श, सोऽपि सूरिं संमुखायातम्। बालं पप्रच्छ सूरिः–कस्त्वं कस्य पुत्रः कुतोऽत्रायातः ?, तेनापि कथितम्–राजगृहात् सूनुः शय्यम्भवस्य पितृगवेषणार्थं पुरात्पुरं बम्भ्रमीमि,

यदि पूज्यपादाः जानते तदा कथयन्तु क्व सोऽस्तीति, 'यदि कथञ्चिन्निजपितरं पश्यामि तदा तत्समीपे प्रव्रजामी'ति भणिते सूरिराह—' आयुष्मन् ! तव पिता मत्सुहृद्, शरीरेणाप्यभिन्नः, त्वं प्रव्रज ममान्तिके न कोऽपि भेदः पितृपितृव्ययोः' इति भणित्वा दीक्षितः । तत उपयोगे षण्मासायुषं विज्ञाय—अहो ! अल्पायुरयं कथं श्रुतधरो भविष्यति ? " अपश्चिमो दशपूर्वी, श्रुतसारं समुद्धरेत् । चतुर्दशपूर्वधरः, पुनः केनापि हेतुना ॥ १ ॥ " मणकप्रतिबोधकारणेऽस्मिन्नुपस्थिते तदुद्धराम्यहमपि, इति विचिन्त्य सिद्धान्तसारमुद्धृत्य—" कृतं विकालवेलायां, दशाध्ययनगर्भितम् । 'दशवैकालिक'मिति, नाम्ना शास्त्रं बभूव तत् ॥ १ ॥ " मणकः पाठितः, षण्मासान्ते सूरिकारिताराधनादिको दिवं गतः । तस्मिन् स्वर्गं गते सूरिमजस्रमश्रुपातं कुर्वाणं वीक्ष्य यशोभद्रप्रमुखशिष्यवृन्देन परिहृतान्नपानेनैकान्तपिण्डितेन अत्यन्तदुःखितेन स्वगुरुर्विज्ञप्तो यथा—

" तुम्हारिसा वि वरपहु !, मोहपिसाएण जइ छलिज्जंति । ता धीर धीर ! भण धीर धीरिमा कत्थ संभूया ? ॥ १ ॥ "

ततः सूरिस्तज्जन्ममरणावधिसम्बन्धमुवाच शिष्येभ्यो मोहराजमाहात्म्यं च, यथा—

" कृच्छ्राद्ब्रह्मेन्द्रभूतेरजनि परिगतः स्थूलभद्रो विकारं, मुञ्चत्यश्रूण्यजस्रं मणकमृतिविधौ पश्य शय्यम्भवोऽपि ।
षण्मासान् स्कन्धदेशे शवमवहदसौ हन्त ! रामोऽपि यस्मा,—दित्थं यश्चित्तभूतो भवति भुवि नमो मोहराजाय तस्मै ॥१॥"

शिष्यैरुक्तं—यदि पूज्यपादा अस्माकमज्ञापयिष्यन्—' मणकोऽस्माकं तनूजः ' तदा वयं भवदिव तत्पर्युपासनामकरिष्यामहि । सूरिभिरुक्तं—ज्ञातास्मत्पुत्रसम्बन्धा यूयं मणकान्नोपास्तिं कारयिष्यत, स कथं विनोपास्तिं निस्तारितः स्यादिति । अथाल्पायुषः कृते कृतं दशवैकालिकसूत्रं संवृणोमीति भणमाणः सूरि श्रीयशोभद्रादिभिः ससङ्घैर्विज्ञप्तः—' अतः परमल्पमेधसो

भविष्यन्ति तेऽपि कृतार्था मणकवद् भवन्तु भवत्प्रसादतः' इत्युपरोधेन न संवत्रे। समये श्रीयशोभद्रं स्वपदे निवेश्य समाधिना स्वर्गमगात्। श्रीशय्यम्भवाचार्याणां वर्षाण्यष्टाविंशति २८ गृहस्थपर्यायः, एकादश ११ वर्षाणि व्रतपर्यायः, त्रयोविंशति २३ वर्षाणि युगप्रधानपदवी, द्वाषष्टि ६२ वर्षाणि मासत्रयं दिनत्रयं च सर्वायुः।

॥ इति श्रीशय्यम्भवाचार्याणां लेशतश्चरितम् ॥

अथ श्रीयशोभद्राचार्यं श्रीसंभूति[त]विजयसूरिं चैकगाथयाऽनुसरन्नाह—

संजणिअपणयभद्दं, जसभद्दं मुणिगणाहिवं सगुणं। संभूयं सुहसंभूइभायणं सूरिमणुसरिमो ॥१३॥

व्याख्या—यशोभद्रनामानं गणाधिपं=साधुसमूहनायकमहम् अनुसरामि=आश्रयामि। यदिवा अनुस्मरामि=ध्यायामि। कीदृशम्? संजनितप्रणतभद्रं=विहितप्रह्वप्राणिकल्याणम्। तथा सगुणं=ज्ञानादिगुणोपेतम्। न केवलं श्रीयशोभद्रसूरिं किन्तु सम्भूत्याचार्यमप्यनुसरामि वा। तमपि कीदृशम्? सुखसंभूतिभाजनं-सुखानि=शातानि तेषां संभूतिः=संभव उत्पत्तिरिति यावत्, तस्य भाजनं=स्थानम् आश्रय इति यावत् सुखसंभूतिभाजनम्। अयमभिप्रायः—साधूनां रागद्वेषाभिनिवेशक्लेशलेशैर्दुःखहेतुभिरस्पृष्टचेतसां यत्सुखं तत्कुतः क्रोधेर्ष्याविषादमायालोभाद्यभिभूतानां शक्रादीनामपीति, तदुक्तम्—

"नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य। यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १ ॥

निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्। विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ २ ॥"

ततस्तस्य भगवतो ज्ञानामृतसागरस्य सुखसंभूतिभाजनत्वे किमस्ति वाच्यमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥

श्रीयशोभद्राचार्याणां गृहस्थपर्यायो २२ द्वाविंशतिवर्षाणि, व्रतपर्यायश्चतुर्दश १४ वर्षाणि, युगप्रधानपदं ५० पञ्चाशद् वर्षाणि, सर्वायुष्कं ८६ षडशीतिवर्षाणि मास ४ दिवस ४ चतुष्कं च।

तथा श्रीयशोभद्राचार्यैः स्वर्जिग्मुभिः स्वपदे निवेशितौ चतुर्दशपूर्वधरौ श्रीभद्रबाहु–श्रीसंभूतिविजयाचार्यौ, तत्र संभूतिविजयमर्द्धगाथयाऽनुस्मृत्य श्रीभद्रबाहुस्वामिचतुर्दशपूर्वधरं स्वचेतोगोचरीकुर्वन्नाह—

सुगुरुतरणीइ जिणसमयसिंधुणो पारगामिणो सम्मं। सिरिभद्दबाहुगुरुणो, हिअए नामक्खरे धरिमो ॥

व्याख्या—शोभनो ज्ञानदर्शनचारित्रालङ्कृतः, स चासौ गुरुश्च=धर्माचार्यः, स चात्र भगवान् आर्यसंभूतविजयः स एव तरणी=नौर्यानपात्रमित्यर्थस्तया हेतुभूतया जिनसमयसिन्धोः=अर्हत्प्रवचनार्णवस्य पारगामिनः=पारदृश्वनः साङ्गचतुर्दशपूर्वधारिण इत्यर्थः, सम्यक्=निष्कौटिल्यं शुद्धभावेनेत्यर्थः श्रीभद्रबाहुगुरोर्हृदये=चित्ते नामाक्षराणि=अभिधानवर्णान् धारयामि=आरोपयामि अविच्युत्या स्मरामीति यावदिति गाथार्थः ॥ १४ ॥

अत्र संभूतविजयाचार्याणां द्विचत्वारिंश ४२ द्वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, चत्वारिंश ४० द्वर्षाणि व्रतपर्यायः, अष्टौ वर्षाणि ८ युगप्रधानपदं, सर्वायुर्नवति ९० वर्षाणि मास ५ दिन ५ पञ्चकं च ॥

तथा श्रीभद्रबाहुस्वामिनः पञ्चचत्वारिंश ४५ द्वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, सप्तदश १७ वर्षाणि व्रतपर्यायः, चतुर्दश १४ वर्षाणि माससप्तकं दिनसप्तकं च ॥ एतयोः सतीर्थ्यत्वादेकत्र सर्वायुर्भणनमिति ॥

श्रीयशोभद्राचार्यः श्रीभद्रबाहुः—श्रीसंभूतिविजयश्च॥

अथार्यसंभूतविजयदीक्षितं श्रीभद्रबाहुदत्तपूर्ववाचनं श्रीस्थूलभद्रं गाथापञ्चकेन स्तुवन्नमस्कुर्वंश्चाह—

सो कहं न थूलभद्दो, लहइ सलाहं मुणीण मज्झंमि। लीलाइ जेण हणिओ, सरहेण व मयणमयराओ ॥
कामपईवसिहाए, कोसाए बहुसिणेहभरियाए। घणदड्ढजणपयंगाए, जीए वि जो झामिओ नेय।१६।
जेण रविणेव विहिए इह, जणगिहे सप्पहं पयासंती[1]। सययं सकज्जलग्गा, पहयपहा सा सणिद्धा वि ॥१७॥
जेणासु साविआ साविआ, कया चरणकरणसहिएणं। सपरेसिं हिअकए सुकयजोगओ जोगयं दट्ठुं ॥१८॥
तमपच्छिमं चउद्दस—पुव्वीणं चरणनाणसिरिसरणं। सिरिथूलभद्दसमणं, वंदे हं मत्तगयगमणं ॥१९॥

एतासां व्याख्या—सः=प्रसिद्धः कुमुदकुमुदबान्धवहिमहारशरदभ्रस्वकीर्त्तिसुधाधवलितब्रह्माण्डमण्डपः कथं=केन प्रकारेण स्थूलभद्रः–शकटालविपुलकुलनभस्तलमण्डनाखण्डचण्डगभस्तिः श्रीमदार्यसंभूताचार्यवर्यशिष्योत्तंसः श्रीभद्रबाहुस्वामिमुक्ताफलस्वच्छगच्छधुराधरणधवलधौरेयो न लभते=न प्राप्नोति श्लाघां=वर्णनीयतां प्रशंसामित्यर्थः, मुनीनां=साधूनां मध्ये=अन्तरे ?, अपि तु लभत एवेत्यर्थः। येन लीलया=हेलया अवगणनया हतः=परासुतां प्रापितः शरभेणेव=अष्टापदतिर्यग्विशेषेणेव मदन एव=कन्दर्प एव मृगराजः=पञ्चाननः। तथा श्रीस्थूलभद्रश्रमणमहं वन्दे इति सम्बन्धः। कीदृशम् ? मत्तग-

१ ‘पहासंती’ इति पाठान्तरम्।

जगमनं=मदकलकलभचङ्क्रमणम् । यो नैव श्यामितः=तदङ्गरूपदर्शन–स्पर्शनचिन्तन–तद्गुणोत्कीर्त्तन–सकामभाषण–केलीकरणादिना नैव श्यामलीकृतः नैव कलुषित इत्यर्थः । कया ? कोशया=कोशाभिधानवेश्यया । कीदृक्षया ? काम एव प्रदीपो दीपकस्तस्य शिखेव शिखा=ज्वाला तया । अत्रापि कीदृश्या ? बहुस्नेहभृतया, तत्र दीपशिखापक्षे स्नेहस्तैलं ततश्च प्रचुरतैलपूरितया, कोशापक्षे च स्नेहश्चेतसि दृढानुरागबन्धस्ततः प्रचुरप्रेमपरिपूर्णया । वेश्या हि प्रायशो निःस्नेहा भवन्ति अर्थानुरागित्वात्तासां पुरुषेषु कृत्रिमस्नेहकारित्वात्, तदुक्तम्—

" अत्थस्स कारणट्ठा, मुहाइं चुंबंति वंकविरसाइं । अप्पावि जाण पेसो, कह ताण विओ परो हुज्जा ॥ १ ॥
चोप्पडपडयं मसिमंडिअंपि रामिंति अत्थलुद्धाओ । सक्खं चिय संपत्तं, मुहाइ विण्हुं पि नेच्छंति ॥ २ ॥ "

परं तया न तादृश्या । पुनः कीदृश्या ? ' घणदड्ढजणपयंगाए ' त्ति दग्धा=प्लुष्टाः (भक्षिताः[१]) घनाः प्रभूता जना एव=लोका एव पतङ्गाः=शलभा यया सा तया, तथाविधयापि यया यो नैव श्यामित इति । ' दड्ढे ' त्यनन्तरं ' घणे ' ति पाठप्रसक्तावपि गाथाभङ्गभयात्प्राकृते चादुष्टत्वात्पूर्वनिपातः॥ १६ । तथा येन रविणेव=भास्करेणेव विहिताः=कृता इह=जगति जना एव गृहं तत्र जनगृहे=लोकभवने ' सप्पहं ' ति स्वप्रभां=निजमाहात्म्यं रूपलावण्ययौवनसौभाग्यादितेजः प्रकाशयन्ती=प्रकटयन्ती, ' पहासंती ' इति पाठे तु प्रभासयन्ती=उद्दीपयन्ती । यदि वा जनानां=लोकानां गृहं जनगृहं तत्र ' अ 'स्य लुप्तस्य पाठात् ' असप्पहं ' ति असत्पथं वेश्यामद्यमांसाद्यासेवनलक्षणसन्मार्गातिक्रमम् । एवं नाम सा कोशा

१ ' उषिताः ' इति भाव्यं दग्धार्थकत्वात् ।

रूपयौवनादिगुणशालिनी, येन तत् व्यामूढो जनो गृहगतः–‘ यदि कोशासङ्गमः कथञ्चिदेकदापि स्यात्तदा स्वजीवितसाफल्यं मन्यामहे, धन्यास्ते य एतस्याः कटाक्षलक्षीभूताः, ये चानया सार्द्धं हसन्ति रमन्ते च ’ इत्यादि चिन्तयन् सदाऽवर्त्तिष्टेति, सत्पथातिक्रमश्चायम् । दीपशिखापक्षे स्वप्रभां=स्वदीप्तिम् । सततं=सर्वदा स्वकार्ये=सुरभिलक्षपाकतैलाभ्यङ्गोद्वर्त्तनविलेपन-नानाभक्तिकर्णाट–लाटा–न्ध्र–द्रविड–टक्क–काश्मीर–जालन्धर–सपादलक्ष–मालव्य–गूर्जरत्रादिनानादेशीयवसनविच्छित्ति-परिधानहारार्द्धहारकटककुण्डलादिरत्नाभरणभूषाकरण—नानाप्रकारसुस्वादुतिक्तशालनकोपयोजनभोजनप्रान्तताम्बूलास्वादन-नानालप्ति–भङ्गीप्रवरगीतकलाचित्रवर्णकविचित्रकलाभ्यसन–बकुल–विचिकिल–मालती–शतपत्रिकादिमालाशीर्षकण्ठारोपण-गन्धग्रहण–नर्मचत्तरीविस्तारण—शृङ्गाररसोत्कटनाटिकाकाव्यदोहकश्रवण—पठन—सुरतव्यापारा—दर्शमण्डलमुखावलोकन-केशकलापसमारचन–नखसंस्कारण–केशधूपन–स्वर्णचक्कलकमसूरकाद्युपवेशन—गण्डोपधानगल्लमसूरिकोपशोभितसुखपल्यङ्का-रोहण–परचित्तोपलक्षण–पररञ्जन–परद्रव्यापहरणादिलक्षणे लग्ना=दत्तावधाना केवलं तदेकचित्तेत्यर्थः । दीपशिखापक्षे च ‘ सकज्जलग्ग ’ त्ति सकज्जलं अग्रम्=उपरितनभागो यस्याः सा तथा । कीदृशी कृता ? इत्याह–प्रहतप्रभा=निर्मथितरूप-यौवनसौन्दर्यादिदर्प्पमाहात्म्या सा सुकोशारूपदीपशिखा स्निग्धापि=अत्यन्तस्नेहलापि, दीपशिखापक्षे च अरूक्षा । ‘ बहुसिणेहभरियाए ’ इति पूर्वगाथोदितपदेनैव स्निग्धत्वे प्रतिपादिते यदत्र पुनः ‘ स्निग्धापि ’–इत्यभिधानं तत्, प्रियादिस्नेहस्य प्रतिबन्धकारणत्वप्रख्यापनार्थं, तथा चोक्तम्—

“ भज्जासिणेहनत्थाए नत्थिया सयणरज्जुपडिबद्धा । कम्मजुगसमकंता, भवारहट्टे भमंति जिआ ॥ १ ॥ ”

परं भगवान् स्नेहपाशैर्न बद्धः, किन्तु सा प्रहतप्रभैव कृतेति । तथा येन–आशु=शीघ्रं 'साविआ' श्राविता धर्म्ममिति गम्यते श्राविका कृता । कीदृशेन ? चरणकरणसहितेन–चरणं च करणं च चरणकरणे ताभ्यां सहितेन=समन्वितेन, तत्र चरणं सप्ततिभेदं तद्यथा—

" वय[5]-समणधम्म[10]-संजम[17],-वेयावच्चं[10] च बंभ[9]-गुत्तीओ । नाणाइतिअं[3] तव[12]-कोहनिग्गहाई[4] चरणमेयं ॥ १ ॥ "

क्रमेण पञ्च–दश–सप्तदश–दश–नव–त्रिक–द्वादश–चतुर्भेदैः सप्ततिसंख्यम् । करणमपि—

" पिंडविसोही[4] समिई[5], भावण[12] पडिमा[12] य इंदिअनिरोहो[5] । पडिलेहण[25] गुत्तीओ[3], अभिग्गहा[4] चेव करणं तु ॥ १ ॥ "

इदमपि चतुः–पञ्च–द्वादश–द्वादश–पञ्च–पञ्चविंशति–त्रि–चतुर्भिः प्रकारैः सप्ततिभेदम् । स्वपरयोः=आत्मेतरयोर्हितकृते=गुणाय स्वर्गापवर्गार्थमित्यर्थः । तस्यामेकस्यां प्रतिबोधितायां समस्तचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोकेऽमारिघोषणाकरणात्स्वर्गापवर्गयोरात्मसात्कृतत्वे आत्मनो हितं संपद्यते । यदा तु रथिकारादेः परस्य सा प्रतिबोधमाधास्यति तदा परहितत्वं संपत्स्यते । एवं तस्या अपि स्वपरहितत्वमवसेयमित्यभिप्रायः । सुकृतयोगतः=पुरोपचितपुण्यसंपर्कात् योग्यताम्=उचितत्वं दृष्ट्वा=विज्ञायेत्यर्थः । १७ । १८ । तं श्रीस्थूलभद्रश्रमणं वन्दे=स्तवीमीति सम्बन्धः । 'अपच्छिमं' ति न विद्यते पश्चिमो यस्मादिति अपश्चिमः । केषाम् ? चतुर्दशपूर्विणाम्–उत्पादपूर्वादि–चतुर्दशपूर्वाणि सूत्रतोऽर्थतश्च कण्ठाग्रे विद्यन्ते येषां ते चतुर्दशपूर्विणस्तेषाम् । चरणज्ञानश्रीशरणम्–इह श्रीशब्दस्य प्रत्येकाभिसम्बन्धाच्चरणश्रीर्ज्ञानश्रीश्च, तत्राद्या–लोचवि-

धानानुपानहत्व–धराशयन–प्रहरद्वयरजनीस्वाप–शीतोष्णसहन–षष्ठाष्ठमादिबाह्यतपोऽनुष्ठानाल्पोपकरणधरण–पिण्डविशोधन–नानाद्रव्याद्यभिग्रहकरण–विकृतिसंत्यागैकसिक्थादिपारणक–मासकल्पविहार–कायोत्सर्गविधानकषायपरिहारादिका संयमश्रीः, अपरा चतुर्दशपूर्वाध्ययना–ध्यापन–सम्यक्तत्त्वालोचना–संख्येयभवकथनानेकभव्यजनबोधनप्रमुखा ज्ञानलक्ष्मीः,तयोश्च चरण-ज्ञानश्रियोःशरणं=गृहम् । मत्तगजगमनं=मदोन्मत्तद्विपगतिमिति गाथापञ्चकार्थः ॥ १५-१९ ॥

श्रीस्थूलभद्रस्य युगप्रवरस्य गृहस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि० ३०, व्रतपर्यायश्चतुर्विंशतिवर्षाणि २४, युगप्रधानत्वं पञ्चचत्वारिंशद्वत्सराणि ४५, सर्वायुर्नवनवति ९९ वर्षाणि पञ्च ५ मासाः पञ्च ५ दिनानि चेति ।

अथार्यमहागिर्यार्यसुहस्तिनौ श्रीस्थूलभद्रशिष्यौ विशेषणविशेष्यद्वारेणानुसरन् गाथाद्वयमाह—

विहिआ अनिगूहविरिअ–सत्तिणा सत्तमेण संतुलणा। जेणज्जमहागिरिणा, समइक्कंते वि जिणकप्पे॥

तस्स कणिट्ठं लट्ठं, अज्जसुहत्थिं सुहत्थिजणपणयं। अवहत्थिअसंसारं, सारं सूरिं समणुसरिमो॥२१॥

व्याख्या—आर्यसुहस्तिनं गणधरं समनुसरामः=सम्यग् एकाग्रचित्ततयाऽनुगच्छामः, सम्यगनुगमनं चाराध्यस्यैव विधीयते न त्वनाराध्यस्य तत आराधयाम इति संटङ्कः। कीदृशम् ? सुखार्थिजनप्रणतं=शातैषिलोकप्रणिपतितम्, अथवा शोभनाः=भद्रजातीया हस्तिनो–गजा येषां ते सुहस्तिनः, ते च राजानः सम्प्रतिराजप्रमुखाः, जनाश्च=राजवर्गपौरजनपदाद्या लोकास्तैः प्रणतम्। यदि वा शुभं=श्रेयः पुण्यं धर्म्ममिति यावत्, तद् अर्थयन्ते ये ते शुभार्थिनो भव्याः सुखार्थिनो वा, तल्लक्षणो

जनः=लोकस्तेन प्रणतम् । अपहस्तितो=गलहस्तितः संसारो=भवो येन तं तथा । प्रत्यासन्नमुक्तिगमनत्वात्तादृशं सारम्=उत्कृष्टं सूरिम्=आचार्यम् । पुनः कीदृशम् ? कनिष्ठं=लघीयांसं गुरुभ्रातरमिति गम्यते । कस्य ? इत्याह–तस्य । तस्य कस्य ? इत्याह येन विहिता=चक्रे संतुलना=सम्यक्त्वशक्तिकलना । क ? इत्याह–जिनकल्पे=" मणपरमोहिपमुहाणि "–इत्यादिपूर्वगाथाव्याख्यातकिञ्चित्स्वरूपे । किंविशिष्टे ? समतिक्रान्तेऽपि=अतीतेऽपि श्रीजम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नेऽपि । अनिगूहिते=अनपह्नुते वीर्यशक्ती येन तेन तथा, तत्र वीर्यम्=आन्तरं मानसिकं बलं, शक्तिः=शारीरं बलं यथोत्साहेनेत्यर्थः । केन ? इत्याह–आर्यमहागिरिणा=आर्यमहागिरिनाम्नाऽऽचार्येणेति गाथायुगार्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

आर्यमहागिरिनाम्नामाचार्याणां त्रिंशद्वर्षाणि ३० गृहस्थपर्यायः, चत्वारिंशद्वर्षाणि ४० व्रतपर्यायः, त्रिंशद्वर्षाणि ३० यौगप्राधान्यम्, सर्वायुर्वर्षशतं १०० मास ५ दिनपञ्चकं ५ चेति ॥

तथा आर्यसुहस्तिसूरीणां त्रिंशद्वर्षाणि ३० गृहस्थपर्यायः, चतुर्विंशतिवर्षाणि २४ व्रतपर्यायः, षट्चत्वारिंशद् वर्षाणि ४६ युगप्रधानपदं, वर्षशतं १०० मासषट्कं ६ दिनषट्कं ६ च सर्वायुरिति ॥

एभ्योऽनन्तर शास्त्रान्तरे श्रुतावतारादौ शतवर्षायुर्गुणसुन्दराचार्यादष्टोत्तरशतवर्षायुष्कस्कन्दिलाचार्यादयोऽन्येऽपि युगप्रवरा यद्यपि प्रतिपादितास्तथापि तेषां तथाप्रसिद्धेरभावादत्र तत्र भगवद्भिस्ते नोपन्यस्ता इति संभाव्यते, ।

अथार्यसमुद्राचार्यार्यमङ्गुसूर्यार्यसुधर्म्माचार्यान् एकयैव गाथया नमस्कुर्वन्नाह—

अज्जसमुद्दं जणयं, सिरीइ वंदे समुद्दगंभीरं। तह अज्जमंगुसूरिं, अज्जसुधम्मं च [सुं] धम्मरयं ॥२२

व्याख्या—अहम् आर्यसमुद्राचार्यं वन्दे=नमस्करोमि। कीदृशम्? श्रियो=ज्ञानादिलक्ष्म्या जनकम्=उत्पादकम्। शेषविशेषणपरिहारेण साभिप्रायमेतद्विशेषणं, यतः समुद्रः श्रियो=लक्ष्म्याख्यसुतायाः जनकः=पिता भवतीति ध्वन्योऽर्थः। पुनः किम्भूतम्? समुद्रवद् गम्भीरम्=अलब्धमध्यं, तथा च गाम्भीर्यलक्षणम्—

"यस्य प्रभावादाकाराः, क्रोधहर्षभयादयः। बहिःस्था नोपलभ्यन्ते, तद्गाम्भीर्यमुदाहृतम् ॥ १ ॥"

तथा आर्यमङ्गुसूरिं च=पुनरार्यसुधर्म्म' वन्दे। किं विशिष्टम्? 'सुधम्मरयं' शोभनधर्म्मे=क्षान्त्यादिदशप्रकारे वृषे रतं=सस्पृहम्। एतद्विशेषणमेतयोर्द्वयोरपि [सु]धर्म्मरतत्वात्संगतमेवेति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एषां त्रयाणां चरितं क्वापि विशिष्टं न दृष्टम्।

आर्यसुधर्म्माचार्याणामष्टादश १८ वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि ४४ व्रतपर्यायः, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि ४४ युगप्रवरपदं, सर्वायुः षडुत्तरं शतं १०६ मासपञ्चकं ५ दिनपञ्चकं ५ चेति ॥

अथ भद्रगुप्तगणनायकमभिवादयन्नाह—

मण-वयण-कायगुत्तं, तं वंदे भद्दगुत्तगणनाहं। जइ जिमइ जई जम्मंडलीए तो मरइ तेहिं समं ॥२३॥

---

१ 'सुधम्मरयं' इति टीकायां लिखितत्वात्।

व्याख्या—मनसा=चित्तेन वचनेन=वाचा कायेन=वपुषा च गुप्तं=निभृतं त्रातं त्रिगुप्तिगुप्तमित्यर्थः, तं वन्दे=अभिवादयामि भद्रगुप्तगणनाथं—भद्रगुप्ताभिधानगणधरम् । यस्य मण्डली यन्मण्डली तस्यां यन्मण्डल्यां, किल सप्त मण्डल्यो भवन्ति सूत्रादिकाः परमत्र प्रस्तावान्मण्डली भोजनमण्डली गृह्यते, यदि जेमति—भुंक्ते यतिः—साधुस्ततः=तदानीं म्रियते=विपद्यते तैरेव=भद्रगुप्ताचार्यैः समं—सार्द्धमिति सौभाग्यसुन्दरोक्तिः । एतच्चरितं वैरस्वामिचरितप्रतिबद्धमवसेयम् ।

अस्यैकविंशति २१ वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, पञ्चचत्वारिंशद्वर्षाणि ४५ दीक्षापर्यायः, एकोनचत्वारिंशद्वर्षाणि ३९ युगप्रधानपदं, पञ्चोत्तरशतं १०५ पञ्च मासाः ५ पञ्च दिनानि ५ सर्वायुः प्रमाणमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

इदानीं किञ्चिच्चरितमुत्कीर्त्तनपूर्वं श्रीवज्रस्वामिगणधरं नमस्यन् गाथाचतुर्दशकं प्राह—

छम्मासिएण सुकयाणुभावओ जायजाइसरणेणं । परिणामओऽणवज्जा, पवज्जा जेण पडिवन्ना ॥२४॥

तुंबवणसन्निवेसे, जाएणं नंदणेण नंदाए । धणगिरिणो तणएणं, तिहुअणपहुपणयचरणेणं ॥२५॥

इक्कारसंगपाढो, कओ दढं जेण साहुणीहिंतो । तस्सज्झायज्झयणुज्जएण वयसा छवरिसेणं ॥ २६ ॥

सिरिअज्जसीहागिरिणा, गुरुणा विहिओ गुणाणुरागेणं ।
लहुओ वि जो गुरुकओ, नाणदाणाओऽसेससाहूणं ॥ २७ ॥

उज्जेणीए गहिअव्वओ लहू गुज्झगेहिं वरिसंते । जो 'सुजइ' त्ति निमंतिअ, परिक्खिओ पत्ततविज्जो ॥
उद्धरिया जेण पयाणुसारिणा गयणगामिणी विज्जा । सुमहापइन्नपुव्वाओ सव्वहा पसमरसिएण ॥२९॥
दुक्कालम्मि दुवालस—वारिसिए सीयमाणसंघम्मि । विज्जाबलेण माणिअ—मन्नं जेणन्नऽखित्ताओ ।३०।
सुररायचावविब्भम-भमुहाधणुमुक्कनयणबाणाए । कामग्गिसमीरणविहिअपत्थणावयणघडणाए ॥३१
लट्ठंगपइट्ठाए, सिट्ठिसुयाए विसिट्ठचिट्ठाए । गुणगणसवणाओ जस्स दंसणुक्कंठिअमणाए ॥ ३२ ॥
निअजणयदिन्नधणकणयरयणरासीइ जो न कन्नाए । तुच्छमवि न मुच्छिओ जुव्वणेवि धणिअं गुणड्ढाए ॥
जलणगिहाओ माहेसरीए कुसुमाणि जेणमाणित्ता । तिव्वन्निआण माणो मलिओ संघुन्नई विहिआ ॥
दूरोसारिअवइरो, वइरो नामेण जस्स बहुसीसो । सीसो जाओ जाओ, जयम्मि जायाणुसारिगुणो ॥
कुंकुण-विसए सोपारयम्मि सुगुरूवएसओ जेण । कहिअ सुभिक्खमविग्घं, विहिओ संघो गुणमहग्घो ॥
तमहं दसपुव्वधरं, धम्मधुराधरणसेससमविरिअं । सिरिवइरसामिसूरिं, वंदे थिरयाइ मेरुगिरिं ॥३७॥

व्याख्या—तमहं श्रीवैरस्वामिसूरिं वन्दे=नमस्यामीति सम्बन्धः । कीदृशम् ? दशपूर्वधरं, धर्मधुराधरणशेषसमवीर्यं=

धर्म्मस्य हि आधारः प्रवचनम्, अतः प्रवचनमहाभारधारणभुजङ्गराजपराक्रमम् । पुनः किम्भूतम् ? स्थिरतया=अक्षोभ्यत्वेन मेरुगिरिं=सुमेरुमहीधरमिति। विशेषणत्रयम्। एतेन चासाधारणज्ञानादिगुणत्रयालङ्कृतत्वं तस्य भगवतो व्यनक्ति–'तथाहि दशपूर्वधर'–मित्यनेन युगान्तर्वर्त्तिश्रुतधरशिखामणित्वं, 'धर्मधुराधरणशेषसमवीर्यम्', इत्यनेन त्रैवर्णिकवर्णवक्त्रवैवर्ण्यनिर्वर्णनोत्कर्णसकर्णाभ्यर्णवरसुश्रद्धापरायणश्राद्धनिकरविलोक्यमानमुखपङ्कजमालोक्य श्रीदेवतावितीर्ण–तत्कालविदीर्ण–सत्पर्ण–सुवर्णपङ्कजसौगन्ध्यावन्ध्यबन्धुरमधुररससंपूर्णबहुपर्णशतपत्रिका–बकुल–विचिकिल–मालती–नवमालिका-मल्लिकादिसारपुष्पसंभारपूरितव्योमतलागच्छद् दूरादाकर्ण्यमानजृम्भकसुरवाद्यमानातोद्यगन्धर्वगीतनादबधिरीकृतदिक्चक्ररत्नचक्रत्वि[त्विग्]मण्डलारचिताखण्डलचापचक्रप्रतिमानत्रिदशयानाधिरोहणपूर्वकश्रीजिनशासनप्रभावनाकरणेनात्यन्तसम्यग्दर्शननैर्मल्यमभिहितम् भवति । तथा 'स्थिरतया मेरुगिरिम्' इत्यनेन च त्रिपरीक्षाप्रवृत्तभीमाज्ञया प्रदीयमानपुष्पफलामानरसास्वादपूरघृतपूरप्रस्तावप्रस्तुतशैशवावस्थाऽसंभाव्यद्रव्यक्षेत्राद्युपयोगयोगतश्चारित्रिचक्रचक्रवर्त्तित्वमुक्तम्। तं वन्दे ॥ ३७ ॥ येन षाण्मासिकेन=मासषट्कजातेन सुकृतानुभावतोजातजातिस्मरणेन=समुद्भूतपूर्वभवानुभूतावबोधेन परिणामतः=भावतो निश्चयत इति यावत्, अनवद्या=निष्पापा प्रव्रज्या=दीक्षा प्रतिपन्ना=अङ्गीकृता ॥ २४ ॥ कीदृशेन येन ? तुम्बवनसंनिवेशे=तुम्बवनाख्यपत्तने जातेन नन्दनेन=अङ्गजेन नन्दायाः=सुनन्दायाः 'भीमो भीमसेनः' इति न्यायात्, धनगिरेरिभ्यपुत्रस्य तनयेन=पुत्रेण त्रिभुवनप्रभुप्रणतचरणेन=लोके ये नायकास्तैर्नमस्कृतक्रमकमलेन ॥ २५ ॥ तथा एकादशाङ्गपाठः–आचाराङ्गपाठः=आचाराङ्गाद्येकादशाङ्गानां पाठः=

अध्ययनं कृतो=विहितः कर्णाहतकेन[1] दृढं=निश्चलं वर्षसहस्रेणाप्यविस्मृतेः येन भगवता साध्वीभ्यः=संयतीभ्यः सकाशात्। कीदृशेन सता ? 'तस्सज्झायज्झयणुज्जएणं' ति, तासाम्=आर्यिकाणां स्वाध्यायश्च=निशीथिन्यादौ गुणनं च, अध्ययनं च-पाठश्च, तत्स्वाध्यायाध्ययने, तयोरुद्यतेन-सावधानेन। तथा वयसा-अवस्थया षड्वार्षिकेण-वर्षषट्कप्रमाणेन। 'वयसा छवरिसेणं' इति वदतोऽस्य प्रकरणकर्त्तुरयमाम्नायाभिप्रायो लक्ष्यते-यदुत षड्वार्षिक उपाश्रयान्निर्गतः, अन्यत्र तूपदेशमालावृत्त्यादौ "अट्ठवरिसो अज्जियापरिस्सयाओ निक्कालिओ" इति दृश्यते, इत्यत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्तीति। तथा श्रीआर्यसिंहगिरिणा=आराद्‌यातः पापेभ्य इत्यार्यः, स चासौ सिंहगिरिश्च तेन, गुरुणा=धर्म्माचार्येण विहितः=कृतो गुणानुरागेण=विनयप्रवृत्तित्व-प्राज्ञत्व-वाक्पाटवत्व-सुरूपत्व सुभगत्वादिगुणबहुमानिना लघुरपि=अल्पवया अपि यो गुरुः=वाचनाचार्यो ज्ञानदानतः=श्रुत-वितरणात् शेषसाधूनाम्-आत्मव्यतिरिक्तमुनीनाम् ॥२७॥ तथा उज्जयिन्यां नगर्यां गृहीतव्रतः-उपात्तदीक्षो लघुः=बालो गुह्यकैः-पूर्वभववयस्यामरैः वर्षति=जलं मुञ्चति धाराधरे इति गम्यते, यः सुयतिरिति=सुसाधुरयमिति वितर्क्य निमन्त्र्य-'भगवन्! प्रसादं कृत्वाऽस्मदाहारग्रहणेन निस्तारयास्मान्' इत्यामन्त्र्य परीक्षितः-पुष्पफलाहारप्रतिषेधे 'सुसाधुरय'मिति निश्चितस्ततः प्राप्तवद्विद्यः-लब्धजृम्भकामरवितीर्णवैक्रियलब्धिविद्यः ॥ २८ ॥ तथा उद्धृता-इतस्ततो विक्षिप्ता सती संघटिता येन भगवता, कीदृशेन सता ? पदानुसारिणा-पदानुसारिलब्धिमता, का उद्धृता ? गगनगामिनी-आकाशगामिनी विद्या-देवताधिष्ठिता वर्णपद्धतिः, कस्मा ? दित्याह-'सुमहापइन्नपुव्वाओ' त्ति पूर्वात्-नानाविधातिशयोपेतग्रन्थात् कीदृशी विद्या ?

---

१ 'कर्णाहतकेन'-कान से सुन कर अभ्यास करने से।

सुमहा–सुशोभनं महः–तेजः–अतिशयप्रभावो यस्याः सा सुमहा, 'पइन्न' त्ति प्रकीर्णा=वर्णव्यतिक्रमेण निक्षिप्ता । उपदेशमालाऽऽवश्यकवृत्त्यादौ "महापरिन्नज्झयणाओ आगासगामिणी विज्जा उद्धरिआ ।" इत्युक्तम्, हेमाचार्यैरप्येवमेवोक्तम्–" महापरिज्ञाध्ययनादाचाराङ्गान्तरस्थितात् । विद्योदध्रे भगवता संघस्योपचिकीर्षुणा ॥ १ ॥" इति, परमत्र यत् "पूर्वात्" इत्युक्तं तत्, अतिशयनिधानं पूर्वाण्येव ततस्तेभ्य एव महापरिज्ञाध्ययने सा पृष्ठतोऽग्रतश्च वर्णान् विधाय पूर्वाचार्यैर्विक्षिप्ता । ततश्च दशपूर्वाणि भगवतैवाधीतानि, पदानुसारिलब्ध्या अग्रेतनपूर्वगतैव सोद्धृता, या च यत्र वर्त्तते सा तस्मादुद्धृता, इत्यभिप्रायेण, इति वयं मन्यामहे, अन्याभिप्रायं तु श्रुतधरा जानते । कीदृशेन भगवता ? सर्वथा प्रशमरसिकेन=सर्वप्रकारेणोपशमरसास्वादलम्पटेन । यदि हि प्रशमरसिको न स्यात्तदा कथमादितो जन्मकालसमनन्तरमेव भावतः प्रव्रज्यामङ्गीचकारेति ॥ २९ ॥ तथा–दुष्काले=दुर्भिक्षे द्वादशवार्षिके=द्वादशवर्षप्रमाणे सीदति=तथाविधशरीराधारपिण्डाभावेन कृशाङ्गीभवति 'सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात्' सङ्घे=श्रमणसमूहे 'सीदत्सङ्घे' इति, समस्तं वा, विद्याया बलं=शक्तिर्विद्याबलं तेन आनीतम्=उपढौकितम्, अन्नं=पिण्डसमाहारो येन अन्यक्षेत्रात्=दूरवर्त्तिदेशान्तरात् ॥ ३० ॥ तथा–यो न मूर्छितो=न लोभं गतः न मोहितस्तुच्छमपि=मनागमपि यौवनेऽपि=उदग्रतारुण्येऽपि सति । कया ? इत्याह–श्रेष्ठिसुतया=सार्थवाहपुत्र्या, कीदृश्या ? सुरराजः=शक्रस्तस्य चापः=कोदण्डस्तेन विभ्रमः=सादृश्यं ययोस्ते सुरराजचापविभ्रमे, तादृशी ये भ्रुवौ=नेत्रोपरि वक्ररोमराजीरचनाविशेषौ, ते एव धनुः=शरासनं तेन सुरराजचापविभ्रमभ्रूधनुषा मुक्ते नयने एव बाणौ यया सा तथा तया । पुनः कीदृक्षया ? 'कामग्गिसमीरणविहिअपत्थणावयणघडणाए' अत्र विहितशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते मध्ये

निपातः प्राकृतत्वात् ततो विहिता=कृता कामाग्नेः=मदनवह्नेरुद्दीपनत्वेन समीरणरूपा=वायुसमाना प्रार्थनावचनानाम्=' हे निजरूपनिर्जितकन्दर्परूप ! सौभाग्यनिधे ! लावण्यसमुद्र ! सौन्दर्यनिधान ! प्रसीद परिणय मां, त्वदेकजीविता त्वदेकशरणाऽहम्' इत्यादिरूपाभ्यर्थनावाक्यानां घटना=रचना यस्या सा तथा तया। यदि वा—कामाग्निसमीरणरूपा विहिता तादृक्स्नेहस्योचिताऽनुरूपा प्रार्थनावचनघटना यस्या सा तथा तया ॥ ३१ ॥ तथा लष्टा=मनोहरा अङ्गप्रतिष्ठा=शिरोललाटपट्टनेत्रोरःस्थलपयोधरभुजायुगलहस्तनखोरुजङ्घानितम्बस्थलाद्यवयवसंस्थानं यस्याः सा तथा तया। विशिष्टा=उत्कृष्टा चेष्टा=लीलालोकितजल्पितस्मितगतभ्रूनर्त्तितासूयितक्रान्तोत्कम्पितसीत्कृतप्रमुदितश्लिष्टादिव्यापारो यस्याः सा तथा तया। पुनः कथम्भूतया ? यस्य गुणगणश्रवणात्=रूपलावण्यसौभाग्यादिचरितोक्तस्वाङ्गोत्थितधर्म्मसमूहाकर्णनाद्दर्शनोत्कण्ठितम्=अवलोकनोत्सुकं मनो=हृदयं यस्याः सा तथा तया दर्शनोत्कण्ठितमनसा ॥ ३२ ॥ तथा निजजनकेन=स्वपित्रा दत्ता=वितीर्णा धनकनकराशिः=स्वर्णरत्नादिपुञ्जो यस्याः सा तथा तया, कन्यया=कुमार्या, किंबहुना धणिअं=अत्यर्थं गुणाढ्यया=सकलगुणसमृद्ध्या ॥ ३३ ॥ तथा ज्वलनगृहात्=हुताशनभवनात् माहेश्वर्यां नगर्यां कुसुमानि=पुष्पाणि 'जेणमाणित्ता' येन मकारोऽलाक्षणिकः, आनीय=उपढौक्य 'तिव्वन्नियाण' त्रैवर्णिकाणां=शाक्यानां मानो=दर्पो मलितो=मर्दितो दलितः, सङ्घोन्नतिः=शासनप्रभावना विहिता=चक्रे ॥ ३४ ॥ तथा यस्य च भगवतो वैरषेणो नाम्ना शिष्यः=अन्तेवासी जातः=समुत्पेदे ! कीदृशः ? दूरोत्सारितवैरः=विप्रकृष्टाप्रसारितविरोधः, बहुशिष्यः=प्रभूतनागिलचन्द्रोद्देहिकादिविनेयः 'जाओ' जातो=गीतार्थः जगति=लोके जातानुसारिगुणः=जातो गीतार्थस्तस्य चेदं स्वरूपम्—

" गीयं भन्नइ सुत्तं, अत्थो पुण होइ तस्स वक्खाणं । गीयस्स य अत्थस्स य, संजोगा होइ गीयत्थो ॥ १ ॥"

ततश्च जातं=गीतार्थम् अनुसरन्ति=अनुगच्छन्तीत्येवंशीला जातानुसारिणस्तादृशा गुणा यस्य स तथा। अयमभिप्रायः—कश्चिद्गीतार्थो भवति परं तदनुसारिगुणो न भवति, तथा च श्रूयते सिद्धान्ते अङ्गारमर्दको नाम द्रव्याचार्यो गीतार्थो न चासौ गीतार्थानुसारिचरित इति ॥ ३५ ॥ तथा कुङ्कणविषये=कुङ्कणाख्ये देशे सोपारके पत्तने सुगुरूपदेशतः=श्रीवैरस्वामिनिजधर्म्माचार्यवाक्यात् येन वज्रसेनक्षुल्लकेन कथयित्वा=निगद्य सुभिक्षम्=अन्नप्राचुर्यं [' अविग्घं ' अविघ्नम् ।] विहितः=कृतः सङ्घो=ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नत्रयपवित्रितसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपो गुणैः=मूलोत्तरलक्षणैर्महार्घो=महामूल्यो दुर्लभ इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ यस्य च शिष्येण वज्रसेनेनैवं चक्रे तमहं श्रीवज्रस्वामिनं वन्दे। इति गाथाचतुर्दशकसंक्षेपार्थः ॥ २४–३७ ॥

" पंचसु सएसु वरिसाणमइगएसुं जिणिंदकालाओ । वइरो सोहग्गनिही, सुनंदगब्भे समुप्पन्नो ॥ १ ॥

अंगोवंगाइं अहिज्जिऊण विज्जापभावगो जाओ । सिरिवइरसामिसूरी, जुगपवरो भारहे वासे ॥ २ ॥"

अत्र चरिते वर्षत्रितयमस्य गृहस्थपर्याय उक्तः, शास्त्रान्तरेऽष्टौ ८ वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि ४४ दीक्षापर्यायः, षट्त्रिंशद्वर्षाणि ३६ युगप्रधानपदम्, अष्टाशीतिवर्षाणि ८८ मासमप्तकं ७ दिनसप्तकं ७ च सर्वायुः ॥

अथ तत्पट्टोदयाचलचूलाखण्डमण्डनचण्डरश्मिं श्रीआर्यरक्षिताचार्यं किञ्चिच्चरितोत्कीर्त्तनपूर्वकमभिष्टुवन् गाथादशकमाह—

निअजणणिवयणकरणम्मि उज्जुओ दिट्ठिवायपढणत्थं ।
तोसलिपुत्तंतगओ, ढङ्करसड्ढाणुमग्गेण ॥ ३८ ॥

सड्ढाणुसारओ विहिअसयलमुणिवंदणो य जो गुरुणा ।
अकयाणुवंदणो सावगस्स जो एवमिह भणिओ ॥ ३९ ॥

को धम्मगुरू तुम्हाणमित्थ य तेणावि विणयपणएणं ।
गुरुणो निदंसिओ सो, ढङ्करसड्ढो विअड्ढेण ॥ ४० ॥

अकयगुरुनिह्नवेणं, सूरिसयासम्मि जिणमयं सोउं ।
परिवज्जिअ सावज्जं, पव्वज्जागिरिं समारूढो ॥ ४१ ॥

सीहत्ता निक्खंतो, सीहत्ताए य विहरिओ जो उ ।
साहिअनवपुव्वसुओ, संपत्तमहंतसूरिपओ ॥ ४२ ॥

सुरवरपहुपुट्ठेणं, महाविदेहम्मि तित्थनाहेण ।
कहिओ निगोयभूयाणं भासओ भारहे जो उ ॥ ४३ ॥
जस्स सयासे सक्को, माहणरूवेण पुच्छए एवं ।
भयवं ? फुडमन्नेसिअ, मह कित्तिअमाउअं कहसु ॥ ४४ ॥
' सक्को भवं ' ति भणिओ, मुणिउं जेणाउअप्पमाणेणं ।
पुट्ठेण निगोयाणं वि वन्नणा जेण निद्दिट्ठा ॥ ४५ ॥
हरिसभरनिब्भरेणं, हरिणा जो संथुओ महासत्तो ।
जेण सपयम्मि सूरी वि ठाविओ गुणिसु बहुमाणा ॥ ४६ ॥
रक्खिअचरित्तरयणं, पयडिअजिणपवयणं पसंतमणं ।
तं वंदामि अज्जरक्खिअ–मलक्खिअं तं खमासमणं ॥ ४७ ॥

आसां व्याख्या—तम्=आर्यरक्षितक्षमाश्रमणम्—आर्यरक्षिताभिधानक्षान्तितपोधनमहं वन्दामीति संटङ्कः। यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्तं वन्दे यः, किम्? इत्याह—यो निजजनन्याः=स्वमातुर्वचनकरणे 'किं त्वं दृष्टिवादमधीत्यागतो येनाहं सन्तुष्यामि?' इत्युक्त्योपदिष्टदृष्टिवादादेशविधाने उद्यतः=सोद्यमः सादरः सप्रयत्न इति यावत्, दृष्टिवादपठनार्थं=द्वादशाङ्गाध्ययनार्थं तोसलिपुत्राख्यानामाचार्याणामन्ते—समीपे गतः—प्राप्तः। कथं गतः? 'ढड्ढरसड्ढाणुमग्गेण' ढड्ढरश्राद्धानुमार्गेण=ढड्ढराभिधानश्रावकानुवर्त्मना ॥ ३८ ॥ श्राद्धानुसारतो ढड्ढरश्रावकस्यानुकरणेन विहितम्=अनुष्ठितं सकलमुनीनां=समस्तसाधूनां वन्दनं=पञ्चाङ्गप्रणिपतनं येन स तथा। 'चः' समुच्चये, यो गुरुणा=तोसलिपुत्राचार्येण अकृतानुवन्दनः=अविहितपश्चाद्वन्दनः श्रावकस्य=श्रमणोपासकस्य य एवम्=इत्थम् इह=जगति भणितः—प्रतिपादितः ॥ ३९ ॥ यद्भणितस्तदाह—को धर्म्मगुरुः—धर्म्माचार्यो युष्माकं—भवताम् अत्र=भारते क्षेत्रे? भूयसामाचार्याणां सम्भवात्, इति पृष्टे 'तेणावि विणयपणएणं' ति, अत्र 'तेणावि' इति पाठोऽशुद्ध इव लक्ष्यते, 'तं वन्दामी' त्यग्रतस्तच्छब्दार्थसाङ्गत्यात्तदेति तदनन्तरं भूयोऽपि बहुशो यच्छब्दनिर्देशाच्च ततः 'जेणावि' इति न्याय्यः पाठः। येन च 'अपि' शब्दस्य 'चा'र्थत्वात्, विनयेन—अहङ्कारपरिहारेण प्रणतो=नम्रस्तेन गुरोः=तोसलिपुत्रस्य निदर्शितः—नितरामङ्गुलीभ्रूसञ्ज्ञादिना चक्षुर्विषयीकृतः सः=पूर्वनिर्दिष्टः, कोऽसौ? ढड्ढरश्राद्धो विदग्धेन=विचक्षणेन ॥ ४० ॥ अत एव कीदृशेन? अकृतगुरुनिह्नवेन=अविहितस्वधर्म्माचार्यापलापेन, यतो यस्य यस्माद्धर्म्माभ्युपगमस्तस्य स एव गुरुः, तथा चोक्तम्—

"जो जेण सुद्धधम्मं—मि ठाविओ संजएण गिहिणा वा। सो चेव तस्स जायइ, धम्मगुरू धम्मदाणाओ ॥ १ ॥"

‘ अकयगुरुनिह्नवेणं ’ एतत्पदं पूर्वगाथायां संवध्यते । तथा ‘ सूरिसयासम्मि जिणमयं सोउं परिवज्जिअ सावज्जं पवज्जगिरिं समारूढो’ अत्र पूर्वतोऽग्रतो वा समाकृष्य ‘यः’ इति योज्यते, यः प्रव्रज्यागिरिं–प्रव्रज्यैव=अर्हद्दीक्षैव गिरिः–शैलस्तम्। अयमभिप्रायः=यथा दुर्बलगात्रैर्निःसत्त्वैर्दृष्टिविकलैः पङ्गुभिः पादभङ्गभीरुभिः पुरुषैर्म्लेच्छादित्रासाक्रान्तैरपि न दुर्गपर्वतशिरस्यध्यारोढुं शक्यते, तथा अनिर्जितेन्द्रियैर्विशिष्टमनःप्रणिधानवर्जितैः सम्यग्दर्शनदूरापास्तैः, कौतुकनाटकादिनिरीक्षणाक्षिप्तचित्तैः प्राणिभिर्जन्मजरामरणरोगशोकदारिद्र्यादिदुःखचक्राक्रान्तैरपि न स्वर्णाखर्वपर्वतदुर्वहपञ्चमहाव्रतमहाभारः सम्यग्वोढुं पार्यत इति । समारूढः=अध्यासितः परितः=सामस्त्येन त्रिविधत्रिविधेनेत्यर्थः, वर्जितं=त्यक्तं सावद्यं=सपापं यजन–याजन–वेदाध्ययना–ध्यापना–प्रासुकजलस्नान=शीताहकरणकारणक्षेत्रकर्षण–नक्षत्रतिथिसूचन–मृषाभाषणाऽदत्तादानमैथुनसेवनपरिग्रहविधान–रात्रिभोजनाद्यनुष्ठानं यत्र प्रव्रज्याग्रहणे तत्परिवर्जितसावद्यम्, एवं यथा भवति । यदि वा–परिवर्ज्य–परित्यज्य, किं तत् कर्म्मतापन्नं ? सावद्यमित्यर्थः सर्वसावद्ययोगपरिवर्जनरूपत्वात्प्रव्रज्यायाः । किं कृत्वा प्रव्रज्यागिरिं समारूढः ? तत्राह–श्रुत्वा=आकर्ण्य, कम् ?, जिनमतं=जिनागमं क ? सूरिसकाशे=प्रस्तावात्तोसलिपुत्राचार्यसन्निधौ । अयमाशयः–जिनागमश्रवणमन्तरेण न विशिष्टज्ञानसद्भावः, तदभावे च न भवव्रततिपरशुसमानशुभध्यानसमुल्लासः, तदभावे च व्यर्थमेव प्रव्रज्याग्रहणं, यदुक्तम्—

“ मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो–र्निर्म्माणं गुणदोषभेदकलना तेषां न सम्भाविनी ।
दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां, सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः ॥ १ ॥ ”

सद्गुरुमुखाज्जिनागमश्रवणे च प्रव्रज्याशिखरिशिखरारोहः सुतरामसम्मोह इति ॥ ४१ ॥ तथा-'सीहत्ता निक्खंतो सीहत्ता एव विहरिओ जो उ' त्ति, अत्र तुशब्दस्य चार्थत्वात्-यच्च सिंहतया निष्क्रान्तः सिंहतया च विहृत इति, अयमभिप्रायः-किल प्रव्रज्यायां विहारे चत्वारो भङ्गाः सिद्धान्तेऽभिहितास्तद्यथा—

" सीहत्ताए निक्खंतो सीहत्ताए विहरइ १,
सीहत्ताए निक्खंतो सियालत्ताए विहरइ २,
सियालत्ताए निक्खंतो सीहत्ताए विहरइ ३,
सियालत्ताए निक्खंतो सियालत्ताए विहरइ ४ "

तत्र ये केचन महासत्त्वाः स्वरसत एवाविर्भूतवैराग्या निष्कषाया जितेन्द्रिया दुस्सहक्षुत्पिपासादिद्वाविंशतिपरीषहोपसर्गवर्गविसहना दीनवृत्तित्वविर्तीर्णविस्तीर्णवक्षःस्थलाः स्वच्छत्वसौम्यत्वादिगुणगणालङ्कृतशरीराः सन्तः क्षान्त्यादिभेददशकासेवनरूपां भागवतीं दीक्षामभ्युपेत्य विशिष्टविशिष्टतरचारित्रभावनोल्लासवशीकृतचेतसः स्वजीवितपर्यन्तं यावत्तां निर्वाहयन्ति ते तीर्थकृच्चक्रभृन्महापुरुषगणधरप्रमुखाः प्रथमभङ्गके द्रष्टव्याः १ ।

ये च पूर्वं 'किमनेनानेकानर्थनिबन्धनेन दुर्गतिपातहेतुना राज्येन ?, निर्विण्णोऽस्म्येतस्माच्चातुर्गतिकदुःखप्रचुरात् संसाराद्, बहुविधासमञ्जसकुलगृहान् धिग्विषयान्' इत्यादरादीक्षां प्रतिपद्य पश्चात्प्रमादवशात्प्रादुर्भवद्विषयाभिलाषोत्कलिकाक-

दाग्रहग्रस्तबुद्धयस्तां भगवद्दीक्षां विजहति उत्सूत्राचरणेन कलङ्कयन्ति, ते च कण्डरीकजमालिप्रभृतयो द्वितीयभङ्गकानुपातिनो निश्चयनीयाः २।

ये च केचिद्भ्रात्रादिस्नेहमोहाद्दीक्षां प्रतिपद्य भावनिर्मोक्षाभावात्स्ववचनप्रतिबद्धत्वादिना भावतो दीक्षापराङ्मुखा अपि दीक्षामातिष्ठन्ते, ते जम्बूस्वामिपूर्वभवान्तरजीवभवदेवचन्द्रावतंसकुलनभस्तलगभस्तिमालिविशांपतिगुण–चन्द्रनरेन्द्र–साधुखलिकारश्रवणोद्धविष्णुप्रबलतरामर्षवशद्रुतशिक्षार्थसमायातसागरचन्द्रमुनीन्द्र–बलात्कारारोपितचारित्रभारपश्चाज्जातशुद्धचरणपरिणामपुत्रपराजयप्रतिज्ञाततच्छिष्यभावक्षुल्लकमुखार्णवसमुच्छलदतुच्छनिर्विकल्पविकल्पजल्पलोलद्धहलकल्लोलमालासंक्षुब्धवादिलब्धवर्णचिलातीपुत्रजीवपूर्वभवान्तरयज्ञदेवाभिधद्विजादयः पश्चादुत्पन्नशुद्धचारित्रास्तृतीयभङ्गके निरूपणीयाः ३।

ये च केचन बुभुक्षाक्षामकुक्षयो द्रमका महोदरिका निर्द्धनाः कोपनाः शठा निष्कृपाः, किं बहुना द्यूतवेश्या–चौर्य–पारदार्य–परवञ्चनाद्यनर्थशाखिशाखाप्रवर्द्धनकुल्यासेकतुल्याः केवलं=भक्षणार्थमुपाददते दीक्षां, पश्चादपि तथैव चेष्टन्ते ते पापा अगृहीतनामधेया असंख्येयाश्चतुर्थभङ्गकगुप्तौ निक्षेपणीयाः ४, इति।

तदेष भगवान् समस्तगुणरत्नरत्नाकरः प्रथमभङ्गकसौधावतंसकशिखरे रत्नकलशवत्समारोहमर्हतीत्युक्तं भगवता प्रकरणकारेण–' सिंहतया निष्क्रान्तः सिंहत्वेन विहृत ' इति॥

दुष्टाष्टकर्म्मकरिघटाकुट्टाकशौर्यवृत्तियुक्तत्वात्सिंह इव सिंहस्तस्य भावः सिंहता तया निष्क्रान्तः=प्रव्रजितः, सिंहतया

१ 'कुट्टाक' छेदन।

चोपसर्गपरीषहरागद्वेषादिश्वापदाधृष्यतया च विहृतः सर्वत्र महीमण्डले, अगञ्जितमल्लः परिभ्रान्त इत्यर्थः । 'त्ता' इति द्विर्भावः प्राकृतत्वात् । यदि वा निष्क्रान्तः, कस्मात् ? सिंहत्वाद्धेतोरिति व्याख्येयम् । साधिकानि नव पूर्वाणि श्रुतं यस्य स तथा । संप्राप्तं–लब्धं महद्–युगप्रधानत्वेन गुरुतरं सूरिपदम्–आचार्यपदं येन स तथोक्तः ॥ ४२ ॥ तथा सुरवरप्रभुणा=शक्रेण पृष्टेन–अनुयुक्तेन महाविदेहे क्षेत्रे तीर्थनाथेन=सीमन्धरस्वामिना कथितो=भणितो निगोदाभिधानां भूतानां–जीवानां भाषकः–उपदेष्टा भारते क्षेत्रे 'जो उ' त्ति 'तु' शब्द एवकारार्थः, य एव नान्यस्तादृग् निगोदजीवानां स्वरूपप्रतिपादकः ॥ ४३ ॥ तथा यस्य च सकाशे–समीपे शक्रः=इन्द्रो ब्राह्मणरूपेण=विप्राकारेण पृच्छति–अनुयुङ्क्ते एवं=वक्ष्यमाणप्रकारेण, तमेवाह= 'भयवं'=इत्यादि, भगवन् !=समग्रैश्वर्यरूपयशः–श्रीधर्म्मप्रयत्नप्रवणपात्र ! स्फुटं=प्रकटं निश्चितम् अन्विष्य=निरूप्य मम कियन्मात्रं=किं परिमाणम् आयुः=जीवितं ? कथय–आदेशय ॥ ४४ ॥ तथा 'शक्रो भवान्'=इन्द्रस्त्वम् इति भणितः= उक्तो मुणित्वा=ज्ञात्वा आयुषः प्रमाणेन=सागरोपमद्वितयरूपेण पृष्टेन निगोदानामपि वर्णना–स्वरूपसुश्लिष्टप्रतिपादनं येन निर्दिष्टा=प्रतिपादिता ॥ ४५ ॥ तथा हर्षभरनिर्भरेण–प्रमोदप्रकरपरिपूरितेन हरिणा–"यमानिलेन्द्रचन्द्रार्क,–विष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु, हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥ १ ॥" इत्यभिधानकोशो (अमर० नानार्थ० १७५) क्तानेकार्थत्वेऽपि प्रस्तावादिह–इन्द्रेण यः संस्तुतः–प्रणुतो महासत्त्वो–महावीर्यः । येन च स्वपदे 'सूरी वि' त्ति सूरिः–दुर्बलिकापुष्प-

---

१ ......हरि,–दिवाकरसमीरयोः ॥४७६॥ यमवासवसिंहांशु, शशाङ्ककपिवाजिषु । पिङ्गवर्णे हरिद्वर्णे, भेकोपेन्द्रशुकाहिषु ॥ ४७७ ॥ लोकान्तरे च... .... ॥ इति हैमानेकार्थसङ्ग्रहः ।

मित्रः, अपिशब्दश्चार्थस्तस्य व्यवहितसम्बन्धः स च योजित एव, निजपट्टे स्थापितः—अध्यारोपितः प्रमाणीकृत इति यावत्, कुतः ? गुणिषु बहुमानात्—ज्ञानादिगुणपात्रेषु चित्तानुरागदार्ढ्यात् । महात्मनां हि गुणा एव गौरवस्थानं न चेश्वरपुत्रस्वजनमित्रादयो गुणविकला अपि, उक्तश्च—

“ गुणा गौरवमायान्ति, न महत्योऽपि सम्पदः । पूर्णेन्दुः किं तथा वन्द्यो,—निष्कलङ्को यथा कृशः ॥ १ ॥ ” ॥ ४६ ॥

कीदृशमार्यरक्षितम् ? रक्षितचरित्ररत्नं—सम्यक्प्रतिपालितचारित्रमणिं, प्रकटितजिनप्रवचनं—प्रभावितभगवच्छासनं, प्रशान्तमनसम्—उपशान्तचेतोव्यापारम्, अलक्षितम्—अलब्धमध्यं जलधिगम्भीरमित्यर्थः, वन्दे आर्यरक्षितमिति गाथादशकार्थः ॥ ३८-४७ ॥

पंचसया चुलसीया (५८४), तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स । अब्बद्धि[द्धि]आण दिट्ठी दसपुरनयरे समुप्पन्ना ॥ १ ॥ ”

शेषनिह्नवषट्कस्वरूपमावश्यकवृत्तेरवसेयमिति ॥ अत्र श्रीआर्यरक्षिताचार्याणां द्वाविंशतिवर्षाणि २२ गृहस्थपर्यायः, चत्वारिंशद्वर्षाणि ४० व्रतपर्यायः, त्रयोदश वर्षाणि १३ यौगप्राधान्यं, पञ्चसप्ततिवर्षाणि ७५ माससप्तकं ७ दिनसप्तकं ७ च सर्वायुरिति ॥

अथ कांश्चिद्भगवतो युगप्रवरागमान् सामान्यध्वनिनैव स्मृतिमानीयाऽऽत्मनः शरणीकुर्वन् गाथायुगलमाह—

तयणु जुगपवरगुणिणो, जाया जायाण जे सिरोमणिणो ।
सन्नाण—चरणगुणरयणजलहिणो पत्तसुयनिहिणो ॥ ४८ ॥

परवाइवारवारण,—वियारिणो जे सियारिणो गुरुणो ।
ते सुगहिअनामाणो, सरणं मह हुंतु जइपहुणो ॥ ४९ ॥

व्याख्या—तदनु=तत्पश्चाद् युगप्रवराः=युगप्रधानास्ते च ते गुणिनश्च—क्षान्त्यादिगुणयुक्ताश्च युगप्रवरगुणिनो ये जाताः—अभूवन् ते मम शरणं=त्राणं भवन्तु=संपद्यन्तामिति सम्बन्धः । तत्र युगप्रवरस्वरूपमनेनैव भगवता प्रकरणकारेण प्रतिपादितं, तद्यथा—

" नाणदंसणसंजुत्तो, खित्तकालाणुसारओ । चारित्ते वट्टमाणो जो, सुद्धधम्मस्स देसओ ॥ १ ॥
पासत्थाईभयं जस्स, माणसे नत्थि सव्वहा । सव्वविज्जाए तत्तन्नू, खमाइगुणसंगओ ॥ २ ॥ तथा—
अणुसोयचाएणं, पडिसोएणं तु वट्टए जो उ । गड्डरिपवाहपडिए, तिविहं तिविहेण वज्जेइ ॥ ३ ॥
सव्वंवि हु करणिज्जं, करिज्ज सिद्धंतहेउजुत्तीहिं । जं न वि रुज्झइ सिज्झइ, पाएण विणावि संदेहं ॥ ४ ॥
खाइगसम्मद्दिट्ठी, जुगप्पहाणागमं च दुप्पसहं । दसवेयालिअकहगं, जिणं व पुजंति अ तिअसवई ॥ ५ ॥
एवं निअनिअकाले, जुगप्पहाणो जिणु व दट्ठव्वो । सुमिणे वि नाणुसोयं, मन्नइ पडिसोयगामी य ॥ ६ ॥
आगमआयरणासम्मएण मग्गेण संपरं[1] च फुडं । जो नेइ सया न य रागदोसमोहाण वसवत्ती ॥ ७ ॥

१ संपरं=कषायम् ।

सगुणगुरुपारतंतं, समुव्वहंतो विहिं परूवेइ । विसयं वियाणमाणो, सम्माणइ गुणजुअं संघं ॥ ८ ॥
गुणिगुरुजणप्पणीयं, पकहिंतो नेय वहइ परेसिं । जणणीजणगाईणं, सयावि सद्धम्मवज्ञाणं ॥ ९ ॥
फुडपागडं परूवइ, जिणगणहरभासिअं तु सद्दहइ । दहइ कुसामग्गितरुं, तरुणोवि गुणेहि वुड्ढो व ॥ १० ॥
सोमो महुरालावी, भयमुक्को सव्वहावि निकलंको । निच्चं परोवयारी, पवयणपरिवुड्ढिकारी य ॥ ११ ॥ किंबहुना—
पुरओ जस्स नन्नस्स, जओ हुज्ज विवाइणो । भवे जुगप्पहाणो सो, सव्वसुक्खकरो गुरू ॥ १२ ॥
बारसंगाणि संघो य, वुत्तं पवयणं फुडं । पासायमिव खंभो व, तं धरेइ सयावि सो ॥ १३ ॥
तदाणाए य वट्टंतो, संघो भन्नइ सग्गुणो । विअप्पेण विणा सम्मं, पावए परमं पयं ॥ १४ ॥ ”

एतेषां चाराध्यपादपद्मानां श्रीयुगप्रधानाचार्याणां श्रीसुधर्म्मस्वामिनमारभ्य श्रीदुष्प्रसभाचार्यं यावन्महानिशीथ-सिद्धान्ते एकस्मिन् समये एको भवति युगपतिर्युगप्रवरः एतावत्प्रमाणाश्च अत्र भविष्यन्तीत्यभिहितमस्ति, यथा—

“ इत्थं चायरिआणं, पणपन्नं हुंति कोडिलक्खा य । कोडिसहस्से कोडी,–सए य तह इत्तिए चेव ॥ १ ॥
एएसिं मज्झाओ, एगे निव्वडइ गुणगणाइन्ने । सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरू ॥ २ ॥
दुप्पसहो जा साहू, होहिंति जुगप्पहाण आयरिआ । अज्जसुहम्मप्पभिई, चउरहिआ दुन्नि अ साहस्सा ॥ ३ ॥
सो चेव गोयमादि–पवयणसुरित्थणो य सेसाई । तं तह आराहिज्जा, जह तित्थयरे चउवीसं ॥ ४ ॥ ”

१ “ चउरहिआ ” इत्यत्र “ चउसहिआ ” इति पाठेन भाव्यम्, चतुरधिकसहस्रद्वययुगप्रधानानां प्रसिद्धत्वात् न तु ‘ चतूरहितानां ’मिति ।

कीदृशा जाताः ? इत्याह—जातानां=गीतार्थानां शिरोमणयो=मुकुटकल्पाः । तथा 'सज्ञानचरणगुणरत्नजलधयः'—तत्र ज्ञायते येन वस्तुजातं तज्ज्ञानम्—अवबोधः, चर्यते=आसेव्यत इति चरणं=चारित्रं, द्वितयमप्यनेकप्रकारम्, तथा यज्ज्ञानं तत् श्रद्धानं विना न भवति प्रकाश इव तिमिस्राभावमन्तरेण, तथा चारित्रमपि सम्यक्त्वं विना न स्यात् देदीप्यमानमहारत्नमिवोद्योतमन्तरेण, ततश्च सन्ति=शोभनानि च तानि ज्ञानचरणानि च तान्येव गुणाः सज्ज्ञानचरणगुणास्त एव रत्नानि—माणिक्यानि तेषां जलधयः=समुद्रास्तदुत्पत्तिस्थानत्वात् सज्ज्ञानचरणगुणरत्नजलधयः । तथा प्राप्तश्रुतनिधयः=लब्धाङ्गोपाङ्गरूपसंवेगमहामाणिक्याकीर्णपरिपूर्णागमसेवधयः (४८) पुनः किम्भूताः ? परवादिनाम्—अक्षपाद—कणाद—सांख्य—सौगत—जैमिनीय—बार्हस्पत्यानां वारः=समूहः स एव वारणो=हस्ती तस्य विदारणं—करटतटस्फाटनं तत्र ये मृगारयः पञ्चाननाः गुरवः=सूरयः श्रीदुर्बलिकापुष्पमित्राऽऽर्यनन्द्याऽऽर्यनागहस्ति—रेवतक—स्कन्दिल हिमवन्—नागोद्योतनसूरि—गोविन्द—भूतदिन्नप्रभृतयो युगप्रधानावलीप्रोक्ताचार्याः, ते सुगृहीतनामान इति, सुष्ठु=शोभनं भूत—प्रेत—पिशाच—शाकिनी—योगिनी—चक्रपरचक्रज्वरापस्मारा—कस्मिकातङ्कशङ्काक्षुद्रोपद्रवसमस्तविघ्नापहारिसकलकल्याणकारि पवित्रं गृहीतम्—उच्चारितं सत् नाम=अभिधानं येषां ते तथा, मम शरणं भवन्तु जगत्प्रभवः—त्रिभुवननायका इति गाथाद्वयार्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

अथ संवेगसारप्रशमरत्यादिनानाप्रकारप्रकरणकरणपरमोपकारित्वात् श्रीउमास्वातिवाचकस्य चरणौ नमस्यन् गाथायुग्ममाह—

पसमरइपमुहपयरण,—पंचसया सक्कया कया जेहिं । पुव्वगयवायगाणं तेसिमुमासाइनामाणं ॥५०॥

पडिहयपडिवक्खाणं, पयडीकयपणयपाणिसुक्खाणं ।
पणमामि पायपउमं, विहिणा विणएण निच्छउमं ॥ ५१ ॥

व्याख्या—तेषामुमास्वातिनाम्नां पादपद्मं=चरणकमलं प्रणमामि=नमस्यामीति सम्बन्धः । कथं ? विधिना=पञ्चाङ्गप्रणिपातादिरूपेण, विनयेन=वचनदेहप्रह्वतया, निश्छद्म=निर्मायं भावसारमित्यर्थः । यैः किम् ? इत्याह—प्रशमरतिः प्रमुखम्=आद्यो येषां तानि प्रशमरतिप्रमुखाणि तानि च प्रकरणानि च प्रशमरतिप्रमुखप्रकरणानि तेषां पञ्चशताः (पुमानव्यस्त्रि) प्रशमरतिप्रमुखप्रकरणपञ्चशताः, प्रमुखशब्दात्तत्त्वार्थश्रावकप्रज्ञप्त्याद्यवरोधः[1], कृताः=विदधिरे, कीदृशाः ? संस्कृताः—गीर्वाणवाणीविरचिताः । तेषां कीदृशानाम् ? पूर्वगतवाचकानाम्=उत्पादादिपूर्वान्तर्गतवस्तुपाठकानाम् । पुनः किं विधानाम् ? प्रतिहतप्रतिपक्षाणां—प्रतीपः=स्याद्वादाद्विपरीतो वादिनोपन्यस्तः, पक्षः=साध्यधर्म्मविशिष्टो धर्म्मी प्रतिकूलप्रतिज्ञेत्यर्थः, प्रतिहतः=पराभूतः प्रतिपक्षो यैस्ते तथोक्तास्तादृशानाम् । एतावता प्रतिपक्षप्रतिक्षेपणपूर्वक—स्वपक्षप्रतिस्थापनेन वादलब्धिसंपन्नतया यः प्रभावकः स युगप्रवरो भवतीत्याविष्कृतं, तदुक्तम्—

" पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य । विज्जासिद्धो य कई, अट्ठेव पभावगा भणिआ ॥ १ ॥
अट्ठण्हं गुणमज्झे, इक्केण गुणेण संघपच्चक्खं । तित्थुन्नतिं कुणंतो, जुगपवरो सो इहं नेओ ॥ २ ॥

१ अवरोधः-अन्तर्भावः ॥

जिणसासणस्स कज्जे, पभावणं कुणइ लोयमज्झम्मि । चरणकरणेहिं जुत्तो, समयन्नू सो जुगप्पवरो || ३ ||"

तथा प्रकटीकृतप्रणतप्राणिसौख्यानां=विविधदेशनया प्रादुर्भावितासम्भावितत्रिदिवशिवसातानामिति परार्थसम्पादनेन परमोपकारित्वोक्तिरिति, तेषां पादपद्मं जात्यैकत्वेन विवक्षितं प्रणमामीति गाथाद्वयार्थः || ५० || ५१ ||

स्वपाण्डित्याडम्बरदूरदूरतरोत्त्रासितभूरिसूरिं श्रीहरिभद्रसूरिं तदवदातचरितोत्कीर्त्तनपूर्वकं प्रणमन् गाथाष्टकमाह—

जाइणिमहयरिआवयणसवणओ पत्तपरमनिव्वेओ । भवकारागाराओ, साहंकाराउ नीहरिओ ||५२||

सुगुरुसमीवोवगओ, तदुत्तसुत्तोवएसओ जो उ । पडिवन्नसव्वविरई, तत्तरुई तत्थ विहिअरई ||५३||

गुरुपारतंतओ पत्तगणिपओ मुणिअजिणमओ सम्मं । मयरहिओ सपरहिअं, काउमणो पयरणे कुणइ ||

चउदससयपयरणगो,-निरुद्धदोसो सया हयपओसो । हरिभद्दो हरिअतमो, हरि व्व जाओ जुगप्पवरो ||

उइयंमि मिहिरि भद्दं, सुदिट्ठिणो होइ मग्गदंसणओ । तह हरिभद्दायरिए, भद्दायरिअम्मि उदयमिए ||

जं पइ केइ समनामभोलिया भोऽलियाइं जंपंति । चिइवासि दिक्खिओ सिक्खिओ य गीयाण तं न मयं ||

हयकुसमयभडजिणभडसीसो सेसु व्व धरिअतित्थधरो । जुगवरजिणदत्तपहुत्तसुत्ततत्तत्थरयणसिरो ||

तं संकोइअकुसमयकोसिअकुलममलमुत्तमं वंदे । पणयजणदिन्नभद्दं, हरिभद्दपहुं पहासंतं || ५९ ||

व्याख्या—याकिनीमहत्तरावचनश्रवणतः प्राप्तपरमनिर्वेदः=संजातसुजातभववैराग्यः भवकारागारात्=संसारचारकगृहात् स्वाहङ्कारात्=निजावलेपात् निर्गतः=निःसृतः, यतः—" जे जत्तिआ य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिआ मुक्खे । गणणाईया लोया, दुण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ " ॥ ५२ ॥

तथा सुगुरोः=जिनभटस्य समीपे उपगतः=प्राप्तः, तदुक्तसूत्रोपदेशतः=जिनभटोक्तसिद्धान्तनिर्दिष्टविशिष्टधर्म्मवाक्याकर्णनात्, यश्च 'तुः' पूरणार्थः प्रतिपन्ना=अङ्गीकृता सर्वविरतिर्येन स तथा । तत्त्वेषु=सूत्रोक्तेषु रुचिः=श्रद्धानं यस्य स तत्त्वरुचिः । तत्रैव=भगवद्वचने विहिता रतिः=अत्यन्तासक्तिर्येन स तत्र विहितरतिः ॥ ५३ ॥ तथा गुरुपारतन्त्र्यात्=गुरुपारवश्यात्, यदि वा गुरुपारतन्त्र्येण=गुरुपरम्परया प्राप्तं=लब्धं गणिपदम्=आचार्यपदं येन स तथा । मुणितं=ज्ञातं जिनमतम्=अर्हच्छासनं येन स मुणितजिनमतः । सम्यक्=याथातथ्येन 'मयरहिओ' मदरहितः=अहङ्कारप्रमुक्तः स्वपरयोर्हितं कर्त्तुमनाः=आत्मतद्व्यतिरिक्तोपकारकरणावहितचित्तः सन् प्रकरणानि=शास्त्राणि करोति=विधत्ते, तत्कालापेक्षया वर्त्तमाननिर्देशः ॥ ५४ ॥ तथा चतुर्दशशतसङ्ख्यानां पञ्चवस्तुको-पदेशपद-पञ्चाशका-ष्टक-षोडशक-विंशिका-लोकतत्त्वनिर्णय-धर्म्मबिन्दु-योगबिन्दु-योगदृष्टिसमुच्चय-दर्शनसप्ततिका-नानाचित्रकबृहन्मिथ्यात्वमथनपञ्चसूत्रक-संस्कृतात्मानुशासन-संस्कृतचैत्यवन्दनभाष्या-नेकान्तजयपताका-ऽनेकान्तवादप्रवेशक-परलोकसिद्धि-धर्मलाभसिद्धि-शास्त्रवार्त्तासमुच्चयादिप्रकरणानाम्, तथा आवश्यकवृत्ति-दशवैकालिकबृहद्वृत्ति-लघुवृत्त्यो-घनिर्युक्तिवृत्ति-पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति-जीवाभिगमवृत्ति-प्रज्ञापनोपाङ्गवृत्ति-चैत्यवन्दनवृत्त्य-नुयोगद्वारवृत्ति-नन्दिवृत्ति-संग्रहणीवृत्ति-क्षेत्रसमासवृत्ति-शास्त्रवार्त्तासमुच्चयवृत्त्य-र्हच्छ्रीचूडामणि-समरादित्यचरितकथा-कोशादि-

शास्त्राणां गावो=वाण्यस्ताभिर्निरुद्धाः=अवष्टब्धा निषिद्धा दोषाः=राग-क्रोध-मद-मात्सर्य-माया-निद्रा-शोक-प्राणिवधालीकवचन-परद्रव्यापहारवराङ्गनासङ्ग-परिग्रहाग्रह-द्यूतक्रीडा-मद्यपान-पिशितभक्षण-वेश्या-पापर्द्धि-प्रसक्तिप्रभृतयो येन स चतुर्दशशतप्रकरणगोनिरुद्धदोषः। सूर्यपक्षे गावः-किरणाः दोषा=रात्रिः। सदा=सर्वदा, हतः=अपास्तः प्रद्वेषः=क्रोधाहङ्कारभावो येन स हतद्वेषः। सूर्यपक्षे च प्रकृष्टा दोषाश्चौर्यपारदारिकत्वादयः। हरिभद्रः=हरिभद्राभिधानाचार्यः, हततमाः=निरस्ताज्ञानः। सूर्यपक्षे तमः=तमिस्रम्। हरिरिव=सूर्य इव जातः=बभूव युगप्रवरः=युगप्रधानः ॥५५॥ तथा उदिते=उद्गते मिहिरे=सवितरि भद्रं=कल्याणं सुदृष्टेः=निर्मलचक्षुषः मार्गदर्शनात्=अध्वनिरीक्षणात् भवति, अयमभिप्रायः-सूर्योदये मार्गे चौरचरटाहिकण्टकादयः सुतरां प्रकटीभवन्ति ततः शक्तौ तत्पराजयेन दूरतः पलायनेन वा प्राणिनां कुशलं संपनीपद्यते। तथा एवं हरिभद्राचार्ये भद्राचरिते=कुशलानुष्ठाने उदयम्=अभ्युदयम् औन्नत्यम् इते-प्राप्ते श्रीहरिभद्राचार्ये विजयमाने सम्यग्दृष्टिना=भव्यलोकेन शुद्धबोधविधिमार्गावलोके सति हृषीक-चौर-मत्सर-चरट-दुर्वचनकण्टकानां रागद्वेषसिंहव्याघ्रमहामोहभिल्लाधिपतीनां च क्षुद्राणामुपद्रवकारिणां स्वात्मवीर्येण सर्वेषां पराजयं विधायाचिन्त्यचिन्तामणिप्रतिमचारित्रावाप्तिसद्भाववशीकृतस्वर्गलक्ष्म्यादिकतया परमाभ्युदयश्रीः प्राप्नोति गर्भार्थः ॥५६॥ तथा यं=भगवन्तं श्रीहरिभद्राचार्यं प्रति, यं, उद्दिश्य केचिदाचार्याः समनाम्ना='हरिभद्र' इति सदृशाभिधानेन 'भोलिया' इति भ्रान्तिं नीताः 'भो' इति प्रतिपाद्य 'भव्यामन्त्रणम्' अलीकानि=असत्यानि जल्पन्ति=भाषन्ते, कीदृशानि? इत्याह—" अहो! अयं श्रीहरिभद्राचार्यः चैत्यवासिभिः=जिनभवनान्त-

१ " स्वर्गेषु पशु-वाग्-वज्र-दिग्-नेत्र-घृणि-भू-जले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः " (इत्यमरकोषनानार्थवर्गः श्लो० २५)

वेंशमावस्थायिभिर्दीक्षितः=प्रव्राजितः शिक्षितश्च=सिद्धान्तादिशास्त्रमध्यापितः, तथा क्रियाकलापाभ्यासं च कारितः 'च' शब्दादाचार्यपदे स्थापितः " इति, परं गीतानां=गीतार्थानां तत्=तस्य चैत्यवासिव्रतग्रहणादिकं न मतं=न सम्मतम् । गीतार्था हि तं समग्रसंविग्नाग्रेसरं विज्ञातसमस्तसिद्धान्ततत्त्वं सुविहितचक्रचक्रवर्त्तिनं मन्यमानाः कथमिव तद्वचः श्रद्दधीरन् इति ॥ ५७ ॥ कुसमयाः=शैव-पशुपति-शाक्यादिसिद्धान्तास्त एव भटाः=योधाः कुसमयभटाः हताः=निर्दलिताः कुसमयभटा येन स हतकुसमयभटः, स चासौ जिनभटश्च, तस्य शिष्यो=विनेयो हतकुसमयभटजिनभटशिष्यः, शेष इव=शेषराज इव । कीदृशः स भगवान् हरिभद्राचार्यः? कीदृशश्च शेषराजः? इति द्वयोर्विशेषणस्य साम्यमाह-धृतं=धारितं सम्यग्व्यवस्थया स्थापितं तीर्थं=सङ्घः प्रवचनं च ततस्तीर्थमेव धरा=धरणिर्येन स धृततीर्थधरः । युगवरेण=युगप्रधानेन जिनदत्तप्रभुणा उक्ताः=प्रतिपादिता ये सूत्रतत्त्वार्थाः=सिद्धान्तरहस्याभिधेयास्त एव रत्नानि तानि शिरसि=मूर्द्धनि सम्यक्प्रतिपत्त्या यस्य स युगवरजिनदत्तप्रभूक्तसूत्रतत्त्वार्थरत्नशिरा इति ॥५८॥ एवंविधो यस्तमहं हरिभद्रप्रभुं वन्दे=नमस्करोमीति संटङ्कः । कीदृशम्? 'पहासंतं' प्रभासमानं=देदीप्यमानं शशधरकरनिकर-हरहास-हंसावदात-सर्वतः-प्रसृत्वरयशःकीर्त्तिप्रख्याततया शोभमानमित्यर्थः । अथ च प्रतीयमानतया प्रकृष्टभास्वन्तं ग्रहकल्लोलजलदपटलावृत्तिराहित्येन जाज्वल्यमानमार्त्तण्डमण्डलम् । उभयोः साधारणं विशेषणचतुष्टयमाह-'संकोइयकुसमयकोसिअकुलं'ति-संकोचितं=विक्षारकक्षादिगिरिगह्वरान्तः प्रवेशितं कुत्सितः=अत्यन्तालीकत्वेन निन्दितः समयः=सिद्धान्तो येषां ते कुसमयाः=शाक्यौलूक्यसाङ्ख्यादयस्त एव कौशिकाः=घूकाः कुसमयकौशिकास्तेषां कुलं[1]=

---

१ "कुलं संघः कुलं गोत्रं, शरीरं कुलमुच्यते ।" इति शब्दरत्नप्रदीपः ॥

सङ्घो येन तं संकोचितकुसमयकौशिककुलम् । तथा न विद्यते मलं=पापं यस्य तम् अमलम्, 'सूर्यपक्षे अमलं=निष्कलङ्कम् । तथा उत्तमं=तत्कालवर्त्तिसमस्तसूरितिलककल्पत्वेन श्रेष्ठम्, सूर्यपक्षे च उत्=उत्क्रान्तम्=अपसृतं तमः=अन्धकारं यस्मिन् तम् उत्तमम् । तथा प्रणतजनानां=प्रह्वलोकानां दत्तं=वितीर्णं भद्रं=कल्याणं येन तं प्रणतजनदत्तभद्रम्, सूर्यपक्षेऽपि प्रणतजनदत्तभद्रम्, 'आरोग्यं भास्करादिच्छे'-दिति लोकापेक्षमेतदिति गाथाष्टकार्थः ॥ ५२=५९ ॥

अथ शीलाङ्कसूरिं प्रशंसन्नाह—

आयारवियारणवयण-चंदिमा[या]दलिअसयलसंतावो । सीलंको हरिणंकु व सहइ कुमुयं वियासंतो ॥

व्याख्या—आचारस्य=आचाराङ्गस्य विचारणं=विवरणं तस्य वचनानि=शब्दास्त एव चन्द्रिका=कौमुदी तया दलितः=चूर्णितः सकलसन्तापः=कषायज्वलनज्वालाऽविकलकवलनं येन स आचारविचारणवचनचन्द्रिकादलितसकलसन्तापः शीलाङ्को हरिणाङ्क इव=मृगलाञ्छन इव कोः=पृथिव्याःसहृदयगीतार्थसाध्वादिजनस्य मुदम्=आचाराङ्गसम्यग्विवरणतदन्तर्गतसंसारवैराग्यहेतुनानासुभाषितामृत-कर्णाभरणाभ्यां प्रमोदं विकाशयन्=विस्तारयन् शोभते=राजते ।

नन्वेष शीलाङ्कश्चैत्यवासीत्याकर्णितमेतत्, यद्येवं तर्हि अस्मिन् युगप्रवरगणधरस्तवनरूपे प्रकरणेऽस्य प्रोच्छलदतुच्छच्छविच्छटाभारभासुरविशालाप्रत्नरत्नमालान्तराल इव काचशकलस्य, विशुद्धोभयपक्ष-सच्चरणचङ्क्रमणदक्ष-पक्षिकुलोत्तंसश्रीराजहंसांतर इव वा शुक्लत्वमात्रसदृक्षपक्षस्य बकोटस्य प्रक्षेपः कथं सचेतसां चेतसि चारिमाणमञ्चति ?, सत्यम्, एष सद्वृत्तिविधानेन लोके प्रतिष्ठापात्रं ज्ञानाधिकत्वेन प्रवचनप्रभावकश्च ततः—"नाणाहिओ वरतरं हीणोवि हु पवयणं पभाविंतो" इत्याप्त-

वचनप्रामाण्यादेतस्यापि प्रशंसामात्रमुचितमेव वन्दनं तु नोचितम्, अत एव 'सीलंको' इति सामान्यनाममात्रोच्चारणपूर्वकं 'सहइ' एतावन्मात्रमेवोक्तं प्रकरणकारेण न तु वन्दे, इत्यादीति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ श्रीहरिभद्राचार्यानन्तरान् गणधारिणः प्रणिपतन्नाह—

तयणंतर दुत्तरभव,-समुद्दमज्जंतभव्वसत्ताणं । पोयाण व सूरीणं, जुगपवराणं पणिवयामि ॥ ६१ ॥

व्याख्या—'तयणंतर'त्ति, अनुस्वारलोपः प्राकृतत्वात्, तदनन्तरं=हरिभद्राचार्यादनन्तरं दुस्तरः=तरीतुमशक्यो यो भव-समुद्रः=हरिभद्राचार्यादनन्तरं दुस्तरः=तरीतुमशक्यो यो भवसमुद्रः=संसारसागरस्तत्र मज्जन्तश्च=ब्रुडन्तश्च ते भव्यसत्त्वाश्च ते दुस्तरभवसमुद्रमज्जद्भव्यसत्त्वाः । भव्यानां चेदं स्वरूपं तत्प्रसङ्गादभव्यानां च—

"भवा जिणेहिं भणिया, जे खलु इह मुत्तिगमणजोग्गा उ । ते पुण अणाइपरिणामभावओ हुंति विन्नेया ॥ १ ॥
विवरीया उ अभवा, न कयाइ भवन्नवस्स जे पारं । गच्छिसु जंति अ तहा, अणाइपरिणामओ चेव ॥ २ ॥"

तेषां सम्बन्धिनः पोतानिव=यानपात्राणीव 'व' शब्दस्योपमानार्थत्वात्, सूरीन्=आचार्यान्, कीदृशान् ? युगप्रवरान्=युगप्रधानान् प्रणिपतामीति क्रियासम्बन्धः कृत एवेति सर्वत्र द्वितीयार्थे षष्ठी प्राकृतत्वादिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥

अथ कस्कोऽसौ युगप्रवरः ? इति तन्नामनिर्देशं विदधान आह—

गयराग(दो)सदेवो, देवायरिओ य नेमिचंदगुरू । उज्जोयणसूरी गुरु,-गुणोहगुरुपारतंतगओ ॥६२॥

व्याख्या—अथ रागद्वेषोपलक्षणप्रेमरोषयोरुपादाने एतयोरुपादानकारणं मोहोऽपि परस्परविरुद्धशास्त्रप्ररूपणकुत्सिताचरणादुत्सूत्रादिग्रहणव्यङ्ग्यं गृहीतमेव, तं विना तयोरसम्भवात्, तत्र च रागः=स्त्र्याद्यभिष्वङ्गलक्षणः, रोषश्च=विपक्षतत्पक्षनिर्घात नादिरौद्राध्यवसायतः खड्ग-चक्र-त्रिशूल-कोदण्डादिप्रहरणपरिग्रहानुमेयः, ततो गतौ=सर्वथा क्षीणौ रागद्वेषौ समोहौ यस्य स गतरागरोषस्तादृशो देवो यस्य स गतरागरोपदेवः, तथा चोक्तम्—

"रागोऽङ्गनासंगमनानुमेयो,-द्वेषो द्विपद्दारणहेतिगम्यः। मोहः कुवृत्तागमहेतुसाध्यो, नैतत् त्रयं यस्य स देवदेवः ॥१॥"

सरागद्वेषस्य च देवत्वं विवेकिनामुपहासास्पदीभूतमेव, तथा च धाराधिपतिश्रीभोजदेवमहाराज—स्वकारितेश्वरप्रासादघटितकृशाङ्गयष्टिभृङ्गिरिटिसंघटितकरपुटानङ्गरतिव्यावर्णनप्रेरितपञ्चशतप्रमाणप्रामाणिकलब्धवर्णशिखामणि-स्वमनीषाविशेषपरीक्षितश्वेताम्बरसद्गुरुक्रमकमलोपासनाऽपास्तितसमस्तासद्दर्शन—सम्यग्दर्शनचिन्तामणि-श्रीधनपालपण्डितराजस्योपहासोक्तिद्वयं यथा—

"दिग्वासा यदि तत्किमस्य धनुषा ? सास्त्रस्य किं भस्मना ?, भस्माथास्य किमङ्गना ?, यदि च सा कामं परिद्वेष्टि किम् ?।
इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टितमिदं पश्यन्निजस्वामिनो, भृङ्गी सान्द्रशिरावनद्धपरुषं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः ॥ १ ॥
स[1] एष भुवनत्रय प्रथितसंयमः शङ्करो, बिभर्त्ति वपुषाऽधुना विरहकातरः कामिनीम् ।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं, करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥ २ ॥"

१ 'स एप०' इदं पृथ्वीछन्दः तल्लक्षणम्—"जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वीगुरुः" इतिवृत्तरत्ना० वर्णः० ॥ ९१ ॥

यदि वा–गतौ रागरोषौ यस्य स गतरागरोषः, स चासौ देवश्च देवरूपत्वात् "साहू य दव्वदेवो" इति वचनाद् द्रव्यदेवः, एवंविधो देवाचार्यः, चः=समुच्चये स चोद्योतनसूरिशब्दादग्रे द्रष्टव्यः, तथा नेमिचन्द्रगुरुः, तथा उद्योतनसूरिश्च । कीदृशः ? गुरुः=महान् गुणौघो=ज्ञानदर्शनक्षान्त्यादिगुणसमुदायो यत्र तादृशे गुरुपारतन्त्र्ये=आचार्यसंप्रदाये गतः=स्थितः गुर्वाम्नाये गतः, रतः=आसक्त इति वा पाठ इति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

तथा—

सिरिवद्धमाणसूरी, पवड्डमाणाइरित्तगुणनिलओ । चिइ(य)वासमंसगयमवगमित्तु वसहीइ जो वसिओ ॥

व्याख्या—श्रीवर्द्धमानसूरिः, कीदृक्षः ? प्रवर्द्धमानातिरिक्तगुणनिलयः=प्रकर्षेणैधमानसंविग्नत्व–शास्त्रनिष्णत्व–परहृदयावर्जकत्व–जितेन्द्रियत्व–निष्कषायत्व–निरतिचारचारित्रक्रियाकारित्व–प्रभृत्यतिशयितगुणावासः चैत्यवासं=जिनभवननिवासम् असङ्गतं=निर्युक्तिकम् अवगम्य=अवेत्य वक्ष्यमाणयुक्तेः वसतौ=परगृहे य उषितः=स्थित इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

अथ समस्तसुविहितहितगुणावासवसतिवासोद्धारधुराभारधारणधवलधौरेयान् श्रीजिनेश्वरसूरिपुङ्गवांश्चरणाराधनपूर्वकं शरणीकुर्वन्नवदातगुणोत्कीर्त्तनपूर्वकं गाथात्रयोदशकमाह—

तेसिं पयपउमसेवा,–रसिओ भमरो व सव्वभमरहिओ ।
ससमय–परसमयपयत्थसत्थवित्थारणसमत्थो ॥ ६४ ॥

अणहिल्लवाडए नाडए व्व दंसिअसुपत्तसंदोहे ।
पउरपए बहुकविदूसए य सन्नायगाणुगए ॥ ६५ ॥
सड्ढिअदुल्लहराए, सरसइअंकोवसोहिए सुहए ।
मज्झे रायसइं पविसिऊण लोयागमाणुमयं ॥ ६६ ॥
नामायरिएहिं समं, करिअ वियारं वियाररहिएहिं ।
वसइहिं निवासो साहूण ठाविओ ठाविओ अप्पा ॥ ६७ ॥
परिहरिअगुरुक्कमागय,–वरवत्ताए वि गुज्जरत्ताए ।
बुद्धिसागरसूरिः–वसहि विहारो (निवासो) जेहिं, कुडीकओ गुज्जरत्ताए ॥ ६८ ॥
तिजयगयजीवबंधू, जब्बंधू बुद्धिसागरो सूरी ।
कयवायरणो वि न जो, विवायरणकारओ जाओ ॥ ६९ ॥
जिनभद्रः–सुगुणजनजणियभद्दो, जिणभद्दो जव्विणेयगणपढमो ।

सपरेसिं हिआ सुरसुंदरीकहा जेण परिकहिया ॥ ७० ॥

जिनचन्द्रः—कुमुयं वियासमाणो, विहडाविअकुमअचक्कवायगणो ।
उदयम्मिओ जस्सीसो, जयम्मि चंदु व्व जिणचंदो ॥ ७१ ॥

संवेगरंगसाला, विसालसालोवमा कया जेण ।
रागाइवेरिभयभीयभवजणरक्खणनिमित्तं ॥ ७२ ॥

अभयदेवः—कयसिवसुहत्थिसेवो,—ऽभयदेवोऽवगयसमयपक्खेवो ।
जस्सीसो विहिअनवंगवित्तिजलधोयजललेवो ॥ ७३ ॥

जेण नवंगविवरणं, विहिअं विहिणा समं सिवसिरीए ।
काउं नवंगविवरण,—मुज्झिअ भवजुवइसंजोगं ॥ ७४ ॥

जिनेश्वरसूरिः—जेहिं बहुसीसेहिं सिवपुरपहपत्थिआण भव्वाणं ।
सरलो सरणी समग्गं, कहिओ ते जेण जंति तयं ॥ ७५ ॥

गुणकणमवि परिकहिउं, न सक्कई स कई वि जेसिं फुडं ।
तेसिं जिणेसरसूरीण चरणसरणं पवज्जामि ॥ ७६ ॥

व्याख्या—तेषां=जिनेश्वरसूरीणां चरणान् शरणं=त्राणं, चरणाः शरणं चरणशरणमिति वा प्रपद्ये=अङ्गीकरोमीति सम्बन्धः। यः कीदृशः ? तेषां श्रीवर्द्धमानाचार्याणां पदा एव=क्रमा एव पद्माः=कमलानि पदपद्मास्तेषां सेवा=पर्युपास्तिः पदपद्मसेवा तस्यां रसिको=गाढासक्तः, किंवत् ? इत्याह–भ्रमरवत्=मधुकरवत्। 'सव्वभमरहिओ' त्ति सर्वेषु=व्याकरण–तर्क–नाटका–लङ्कार–च्छन्दः–काव्य–ज्योतिष–वेद–पुराणादिशास्त्रेषु भ्रमो=भ्रान्तिः संशयः सर्वभ्रमस्तेन रहितः=त्यक्तः,अत एव स्वसमयाः=आत्मसिद्धान्ताः–दशवैकालिकावश्यकौघनिर्युक्तिपिण्डनिर्युक्त्युत्तराध्ययनदशाकल्पव्यवहाराचाराद्यङ्गैकादशककालिकश्रुतौपपातिकराजप्रश्नीयाद्यकालिकश्रुतसंग्रहणीक्षेत्रसमासशतकसप्ततिकाकर्मप्रकृत्यादयः,परसमयाः=बौद्धसांख्यादिसिद्धान्तास्तेषां पदार्थसार्थाः, तत्र पदानि=विभक्त्यन्तानि तेषामर्थाः=वाच्याः पदार्थास्तेषां सार्थाः=समूहास्तेषां विस्तारणं=सविस्तरप्रकाशनं तत्र समर्थः=शक्तः स्वसमयपरसमयपदार्थसार्थविस्तारणसमर्थः। अस्यां गाथायामेकवचनान्तत्वं विशेषणेषु गुणाधिकबहुवचनयोग्यताप्राप्तावपि सामान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यमिति ! ॥ ६४ ॥ तथा यैरित्यग्रेतनगाथायां वर्त्तमानं ' डमरुकमणि ' न्यायेन ' अणहिल्लवाडए ' इत्यस्यामपि गाथायां संबध्यते–यैः श्रीजिनेश्वराचार्यैः अणहिल्लपाटके=अणहिल्लपाटकाभिधाने पत्तने मध्येराजसभं=राजसभाया मध्ये ' परे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा ' इत्यव्ययीभावसमासः (हैम० ३–१–३०), प्रविश्य=

स्थित्वा लोकश्चागमश्च तयोरनुमतं=सम्मतं यत्र, एवं यथा भवति कृत्वा नामाचार्यैः सह विचारं=धर्म्मवादम् यैः कीदृशैः ? इत्याह–' विचाररहिएहिं ' विचाररहितैरिति विरोधः, अथ च विकाररहितैः=निर्विकारैरित्यर्थः । वसतौ निवासः=अवस्थानं साधूनां स्थापितः=प्रतिष्ठितः, स्थापितः=स्थिरीकृतः आत्मा । वसतिव्यवस्थापनं चाणहिल्लपाटकेऽकारि । कीदृशे तस्मिन् ?

इत्याह–नाटक इव दशरूपक इव नाटकाख्ये । कीदृशे अणहिल्लपाटके ? कीदृशे च नाटके ? इत्युभयोरपि श्लिष्टं विशेषणसप्तकमाह–' दंसिअसुपत्तसंदोहे ' इति, सुपात्राणां=गौरवर्ण लम्बकर्ण–विशालभाल–विशालान्तर्वक्षःस्थल–विशालकपोलस्थल–पद्मदलाक्ष–लाक्षारसाक्तसुश्लिष्टपाद–मधुरनाद–गन्धर्वकलाविचक्षण–प्रतिदिनप्रवर्त्तितदेवगृहादिक्षणनायकनायिकालक्षणानां सन्दोहः–समूहः सुपात्रसन्दोहः, दर्शितः=चक्षुर्गोचरतां प्रापितः सुपात्रसन्दोहो येन तस्मिन् दर्शितसुपात्रसन्दोहे । यदि वा–मङ्गलवटघटिकामणिककरवकस्थालीप्रमुखाणां राजमानराजतसौवर्णवर्णाढ्यरत्नाढ्यगृहभूषणविशालस्थालकचोलशुक्तिप्रमुखाणां चापणस्थापितानां सुपात्राणां=सद्भाजनानां सन्दोहः=कूटो यत्र तस्मिन् । नाटकपक्षे च रामलक्ष्मण–सीता–हनूमत् वालि–सुग्रीव–लङ्केश्वर–विभीषणादीनां सुपात्राणां सन्दोहः, स दर्शितो यत्र तादृशे । ' सुपत्तसंदेहे ' इति पाठे तु पत्तनपक्षे यदा ताम्बूलरसरञ्जितोष्ठाः सदनुष्ठाननिष्ठादविष्ठाः सुरङ्गनारङ्गकाधिष्ठितचरणाश्चरणाचारचारिमातिक्रान्तोत्सूत्रक्रियोपदेशनिरताः रतासक्तिप्रवृत्ता वाणिज्यकलान्तरद्रविणवितरणसंयत्यादिकलत्रीकरणापत्योत्पादनपरस्परपाणिग्रहणकारणादिनानाप्रकाराश्रवासमञ्जसचेष्टाविधातारः केचिद् गुरुकर्म्माणो दरीदृश्यन्ते तत्र, ततो भवति विवेकवतां भवभीरूणां भव्यात्मनां मनस्ययं संशयः–यदुत किमस्ति क्वापि सत्पात्रं न वा ? इत्यत उक्तं–दर्शितसुपात्रसन्देहे इति । नाटकपक्षे च

रामादिसुपात्राणां सं=सम्यक् समुत्पन्नसामाजिकप्रतीति(क्त)देहाः=शरीराणि १।

तथा 'पउरपए' त्ति, प्रचुराणि=प्रभूतानि प्रतिगृहद्वारकूपिकासहस्रलिङ्गादिमहातडागवाप्यादिसद्भावेन पयांसि=अम्भांसि यत्र तस्मिन् प्रचुरपयसीति अणहिलपाटकपक्षे। नाटकपक्षे च–प्रचुराणि=विस्तीर्णानि प्रलम्बानि पदानि यत्र २।

'बहुकविदूसगेय' त्ति, कवयः=काव्यकर्त्तारः, दूष्याणि=देवाङ्गवस्त्राणि* बहूनि=प्राज्यानि कविदूष्यकाणि यत्र तस्मिन्, यदि वा सप्तमीलोपात्–बहुकविदूष्यगेये, गेयं=गीतमिति पत्तनपक्षे। नाटकपक्षे च–बहुकविदूषके=बहव एव बहुकाः=प्रभूता विदूषकाः=सहास्यवचनभाषिणो यत्र तथाविधे। विदूषकलक्षणं रुद्रटालङ्कारे यथा—

"भक्तः संवृतमन्त्रो,–नर्मणि निपुणः शुचिः पटुर्वाग्मी। चित्रज्ञः प्रतिभावान्, तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु ॥ १ ॥
त्रिविधः स पीठमर्दः, प्रथमोऽथ विटो विदूषकस्तदनु। नायकगुणयुक्तोऽथ च, तदनुचरः पीठमर्दोऽत्र ॥ २ ॥
विट एकादशविद्यो, विदूषकः क्रीडनीयकप्रायः। निजगुणयुक्तोमर्षो,–हासकराकारवेषवचाः ॥ ३ ॥"

इत्यादि नाटकशास्त्रप्रतीते, ततश्च बहुकविदूषके नाटके ३।

तथा 'सन्नायगाणुगए' त्ति सन्नायकानुगते–पत्तनपक्षे सन्नायकैः=शोभनप्रभुभिर्शिष्टमण्डलगृहग्रामादिस्वामिभिरनुगते=संबद्धे। नाटकपक्षे च–चतुर्द्धा नायक उक्तः, तथा च तल्लक्षणशास्त्रे यथा—

"नेता विनीतो मधुर,–स्त्यागी दक्षः प्रियंवदः। रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी, रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥

*"दूष्यं वाससि तद्गृहे। दूषणीये च" इति हैमानेकार्थ संग्रहः (३७४। ३७५)

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञा,-कलामानसमन्वितः । शूरो दृढश्च तेजस्वी, शास्त्रचक्षुश्च धार्म्मिकः ॥ २ ॥
भेदैश्चतुर्द्धा ललितं-शान्तो-दात्तो-द्धतैरयम् । निश्चिन्तो धीरललितः, कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥
सामान्यगुणयुक्तश्च, धीरशान्तो द्विजादिकः । महासत्त्वोऽतिगम्भीरः, क्षमावानविकत्थनः ॥ ४ ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो, धीरोदात्तो दृढव्रतः । दर्प्पमात्सर्यभूयिष्ठो, मायाछद्मपरायणः ॥ ५ ॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी, चलश्चण्डो विकत्थनः । स दक्षिणः शठो धृष्टः, पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥ ६ ॥
दक्षिणोऽस्यां सहृदयो,-गूढविप्रियकृच्छठः । व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७ ॥"

एवंरूपचतुर्विधनायकानुगते नाटके ४ ।

तथा 'सड्ढिअदुल्लहराए' त्ति, ऋद्ध्या=चतुरङ्गचमूरुचिनिचयविरचितचक्रवालविशालसारतारवज्रेन्द्रनील-मरकत-कर्केतनपद्मराग-मुक्ताफल-शशिकान्त-सूर्यकान्तादि-रत्नमणिभाण्डागारशालि-तन्दुल-गोधूम-मुद्गादिसद्धान्यकोष्ठागारनिर्जितरतिरूपप्रतिरूपप्रचुरान्तःपुरसार्द्धषोडशवर्णिकसुवर्णरजतादिमहाविभूत्या वर्त्तत इति सर्द्धिकस्तादृशो दुर्लभराजो महीपतिर्यत्र तस्मिन् सर्द्धिकदुर्लभराजे, इति पत्तनपक्षे । नाटकपक्षे च-सती=शोभना उत्कृष्टा धी=र्बुद्धिर्येषां ते सद्धियस्त एव सद्धीकाः, स्वार्थे 'क' प्रत्ययः, तेषां सद्धीकानां दुर्लभो=दुष्प्रापो रागः=चेतसोऽनुबन्धो यत्र तस्मिन् सद्धीकदुर्लभरागे, धस्य ढत्वं प्राकृतत्वात् । किल ये केचन संसारविषमकान्तारपरिभ्रमणनिर्विण्णाः समस्तापायविनिर्मुक्तमुक्तिसौख्याभिलाषुका निरतिचारचारित्रश्रीसमुपगूढविग्रहाः प्रतिहतकुग्रहास्तत्त्वविचारचातुरीधुरीणास्त एव तत्त्ववृत्त्या सुमतय इत्युच्यन्ते, तदुक्तम्—

" बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च, देहस्य सारं व्रतधारणं च, अर्थस्य सारं तु सुपात्रदानं, वाचः फलं प्रीतिकरं नराणाम् ॥१॥"

ततस्तेषां सुन्दरधिषणानां चेतस्येतदेव सदैव निरर्त्ति जागर्त्ति यथा—

" कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युन्नतो–न्मीलत्पीनपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानपि, प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो ! मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥ १ ॥
यल्लज्जनीयमतिगोप्यमदर्शनीयं, बीभत्समुल्वणमलाविलपूतिगन्धि ।
तद् याचतेऽङ्गमिह कामिकृमिस्तदेवं, किं वा दुनोति न मनोभव वामता सा ॥ २ ॥
शुक्रशोणितसम्भूतं, नवच्छिद्रं मलोल्वणम् । अस्थिशृङ्खलिकामात्रं, हतयोषिच्छरीरकम् ॥ ३ ॥
धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितम् । यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो निपातितः ॥ ४ ॥
सुखी दुःखी रङ्को नृपतिरथ निःस्वो धनपतिः, प्रभुर्दासः शत्रुः प्रियसुहृदबुद्धिर्विशदधीः ।
भ्रमत्यभ्यावृत्त्या चतसृषु गतिष्वेवमसुमान्, हहा ! संसारेऽस्मिन्नट इव महामोहनिहतः ॥ ५ ॥ "

इत्यादिमोहनाटकं परिभावयतां सतां सुधियां कुतूहलाद्गीतनृत्यबहुलापरासमञ्जसचेष्टनाटकनिरीक्षणे प्रमादचरिते कथङ्कारं नाम मनागपि मनः प्रादुर्भवीति ५ ।

तथा ' सरसइअंकोवसोहिए 'त्ति सरस्वती नाम्नी निम्नगा तस्या अङ्कः=उत्सङ्गस्तेनोपशोभिते=विराजिते । यदि वा–सर-

१ ' अर्थस्य सारं किल पात्रदानं ' इति पाठान्तरम् ।

स्वत्याः=गीर्देवतायाः अङ्कः=चिह्नं व्याकरणसाहित्यतर्कादिशास्त्रपरिज्ञानं येषु ते सरस्वत्यङ्काः, ते चासाधारणविशेषणसामर्थ्यान्नानाशास्त्रकर्त्तारः श्रीमदभयदेवसूरिप्रख्याः सूरयस्तैर्विभूषिते । अथवा स्वराः=षड्जादयः स्मृतयो=मुनिप्रणीताः, तद्योगात्तद्विद उच्यन्ते, अङ्कानधीयन्ते ' अणि ' अङ्काः, ततः स्वराश्च स्मृतयश्चाङ्काश्च स्वरस्मृत्यङ्काः, तैरुपशोभिते भिन्नप्रदेशवर्त्तिगान्धर्विकस्मृत्युच्चारकाङ्कावलीपाठकाधिष्ठिते इत्यर्थः । यदि वा–स्वरः=शब्दस्तेन च यश उपलक्ष्यते-तत्प्रधानाः सत्यः=पतिव्रताः स्त्रियस्तासाम् अङ्कः=" अङ्को, भूषारूपकलक्ष्मसु चित्राजौ, नाटकाद्यंशे, स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसोः " इति हैमानेकार्थवचनात् (२–१७) अन्तिकं, तेनोपशोभिते, इति पत्तनपक्षे । नाटकपक्षे किल चतस्रो वृत्तयः, (कै)कौशिकी–सात्वत्या–रभटी–भारतीलक्षणाः, यथा—

" तद्व्यापारात्मिका वृत्ति,–श्चतुर्द्धा तत्र (कै)कौशिकी । गीतनृत्यविलासाद्यै,–र्मृदुशृङ्गारचेष्टितैः ॥ १ ॥

सात्वती— विशोका सात्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।

आरभटी पुनः— मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ २ ॥

शृङ्गारे कैशिकी वीरे, सात्वत्यारभटी पुनः । रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ ३ ॥ "

इत्यादिस्वरूपं नाटकलक्षणादवसेयम् । अत्र सरस्वतीशब्देन भारती वृत्तिरुपलक्ष्यते, तस्या अङ्को=नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ततश्च सरस्वती च अङ्कश्च ताभ्यामुपशोभिते इत्यर्थः ६ ।

तथा ' सुहए 'त्ति शोभनाः=काम्बोजवाल्हीकपारसीकादयः शुक्तिरन्ध्रदेवमणिरोचमानादिप्रशस्तसमस्तलक्षणोपेता उच्चैः- ॥ ३३ ॥

श्रवानुकारिणो हयाः=तुरगा यत्र तस्मिन् सुहये। यदि वा सुभगे=हृदयप्रिये सकलफलपुष्पभक्ष्यवस्त्रतीक्ष्णनागरखण्डनागवल्लीदलसोपारकपूगफलादिनानाप्रकारमनोहरवस्तुरत्नाकरत्वेन विषयिणां मुग्धबुद्धीनां लोचनसाफल्यकारिदर्शने इति, तत्त्ववृत्त्या पुनः समस्तसौख्यनिधाननिर्वाणदानदुर्ललितानां परमेष्ठिनामेव वर्ण्यमानं सुभगत्वं श्रेष्ठमिति। नाटकपक्षे च मुग्धानां सुखदे=सातावहे इति विशेषणसप्तकार्थः ७।

अमुमेवार्थं पुनः सविशेषमाह–'वसहिविहारो' इत्यादि। वसत्या=चैत्यगृहवासनिराकरणेन परगृहस्थितत्या सह विहारः=समयभाषया भव्यलोकोपकारादिधिया ग्रामनगरादौ विचरणं वसतिविहारः, स यैर्भगवद्भिः स्फुटीकृतः=सिद्धान्तशास्त्रान्तः परिस्फुरन्नपि लघुकर्म्मणां प्राणिनां पुरः प्रकटीकृतः। कस्याम्? गूर्जरात्रायां=सप्ततिसहस्रप्रमाणमण्डलमध्ये। किं विशिष्टायाम्? परिहृतगुरुक्रमागतवरवार्त्तायामपि, परिहृता=श्रवणमात्रेणापि अवगणिता गुरुक्रमागता=गुरुपारम्पर्यसमायाता वरवार्त्ता=विशिष्टशुद्धधर्म्मवार्त्ता यया सा तथा तस्याम्, अपिः=सम्भावने–नास्ति किमप्यत्रासम्भाव्यं घटत एवेत्यर्थः, परं तादृश्यामपि प्रतीयमानार्थपक्षे पुनः गुरुः=पिता "गुरुर्महत्याङ्गिरसे, पित्रादौ धर्म्मदेशके।" इत्यनेकार्थवचनात् (हैमा०२-४१७), तस्य गुरोः क्रमः=गुरूक्रमः "क्रमः कल्पांह्रिशक्तिषु परिपाट्याम्" इति (हैमानेकार्थसङ्ग्रह० २-३२६) वचनात् कल्पः=आचारः स्वकन्यकां वराङ्गीकारणलक्षणस्तेन गुरुक्रमेणागता=आयाता गुरुक्रमागता, सा चासौ वरवार्त्ता च, वरो=भर्त्ता तस्य वार्ता=कथा वरवार्त्ता, परिहृता=त्यक्ता गुरुक्रमागतवरवार्त्ता यस्यां तन्निवासिलोकेनेति गम्यते, तत्स्थलोकोपचारात्सैव वा व्यपदिश्यते ततः परिहृता गुरुक्रमागतवरवार्त्ता यया सा तथा तस्यामिति समासः, अत एव 'गुज्जरत्ताए'त्ति

गुञ्जो=नटविटादिस्तद्रक्ता=आसक्ता तस्यां गुञ्जरक्तायां स्वपतिं परित्यज्य कृतान्यगृहप्रवेशायामित्यर्थः । अत्र पक्षे अपिर्निन्दायाम्, " अपि सम्भावनाशङ्का–गर्हणासु समुच्चये । प्रश्ने युक्तपदार्थेषु, कामचारिक्रियासु च ॥ १ ॥" इति (हैमानेकार्थ० अव्ययाधिकारे १८०१) वचनात् । शिष्टलोका अपि निन्दन्तः पठन्ति यथा—

" सत्यं नास्ति शुचिर्नास्ति, नास्ति नारी पतिव्रता । तत्र गूर्जरके देशे, एक माता बहुपिता ॥ १ ॥
जराजर्जरमप्यङ्गं, बिभ्रत्यो गूर्जरस्त्रियः । दृढकञ्चुकसन्दानाः, मोहयन्ति महीमपि ॥ २ ॥ " इत्यादि ।

तथा ' तिजयगय० ' त्ति त्रिजगद्गतजीवबन्धुः=त्रिविष्टपनिविष्टप्राणिबान्धवः । येषां प्रभूणां बन्धुर्यद्बन्धुः=सहोदरो बुद्धिसागराभिधानः, सूरिः=आचार्यः, कृतवादरणोऽपि=विहितवादकलहोऽपि न यो विवादरणकारको जातः=संपन्न इति विरोधः । अथ च कृतस्वनामानुरूपव्याकरणोऽपि विवादरणकारको न जात इति विरोधपरिहारार्थः । तथा सगुणजनानां=प्रकृतिसौम्याक्रूराशठसदाक्षिण्यविनीतदयापरमध्यस्थगुणानुरागिप्रमुखलोकानां जनितभद्रः=दर्शनमात्रेण देशनामृततरङ्गिणीपयः–पूरप्लावितश्रवणपुटतटाङ्कुरितं विवेककन्दलीकन्दलतया वा प्रोल्लासितकल्याणः जिनभद्रनामा सूरिः, येषां विनेयगणस्य=अन्तेवासिवृन्दस्य मध्ये प्रथमः=मुख्यः स्वपरयोः=आत्मेतरयोर्हिता=अनुकूला सुरसुन्दरीकथा येन परिकथिता=परितः=सामस्त्येन आदित एव निर्माय्योपदिष्टा भव्यलोकायेत्यर्थः । तथा येषां शिष्यो=विनेयो यच्छिष्यो जगति=भुवने उदयम्=उन्नतिं, चन्द्रपक्षे उदयं[1]=पर्वतम्, इतः=प्राप्तः किंवत् ? चन्द्र इवेत्युपमानम् । किं नामधेयः ? इत्याह–जिनचन्द्रसूरिनामा सुगृहीतनाम-

१ " उदयः पर्वतोन्नत्योः " इति हैमानेकार्थवचनात् श्लो० ३–१०८१ ।

धेयः । उभयोरपि साम्यमाह–कोः=पृथिव्या मुत्=हर्षः कुमुदं विकाशयन्=विस्तारयन्, इति सूरिपक्षे, चन्द्रपक्षे पुनः कुमुदं=कैरवं विकाशयन्=संकुचितं सत् प्रसारयन् । पुनः कीदृशः ? विघटितो=विश्लेषितो व्यभिचारं=विसंवादम् असत्यपक्षतामिति यावत्, प्रापितः कुमतान्येव कणभक्षा–ऽक्षपाद–शाक्य–सांख्यादिकुदर्शनान्येव चक्रवाकाः=कोकास्तेषां गणः=संघातः कुमतचक्रवाकगणः, विघटितः कुमतचक्रवाकगणो येन स विघटितकुमतचक्रवाकगणः, इत्युभयपक्षेऽपि । यदि वा–विघटितो=वियोजितः कुमतचक्रस्य=कुदर्शनसमूहस्य वादगणो=जल्पसमूहो येन स विघटितकुमतचक्रवादगणः, इति सूरिपक्षे । चन्द्रपक्षे च–विघटितः कोः=पृथिवीलोकस्य मता=रम्याकारधारित्वेन इष्टा ये चक्रवाकास्तेषां गणो येन स विघटितकुमतचक्रवाकगण इति । तथा तस्यैवासाधारणगुणस्तुतिं कुर्वन्नाह–संवेगरङ्गशाला यथार्थाभिधाना महती कथा, कीदृशी ?त्याह–विशालशालोपमा–विशालः=विस्तीर्णः स चासौ शालश्च=प्राकारो विशालशालस्तेनोपमा=सादृश्यं यस्याः सा विशालशालोपमा कृता=विहिता येन श्रीजिनचन्द्रसूरिणा । किमर्थं ?मित्याह–रागादिवैरिभयभीतभव्यजनरक्षणनिमित्तम्–रागादयो=रागद्वेषप्रमादाविरतिमिथ्यात्वाज्ञानमद(न)दुष्टमनोवाक्कायादयस्ते च ते वैरिणश्च=शत्रवो रागादिवैरिणस्तेभ्यो भयं=साध्वसं तेन भीताः=त्रस्ता रागादिवैरिभयभीताः, ते च ते भव्यजनाश्च मुक्तिगामिजन्तवश्च ते तथा, तेषां रक्षणं=त्राणं तत्=तस्मै निमित्तं तन्निमित्तम् । यथा विशालशालमध्यस्थाः परचक्रचौरचरटपटलकृतकष्टाभावेन धनकनकरत्नसमृद्धाः प्रसिद्धा जना निराबाधाः प्रमोदमनुभवन्ति, एवं यां शृण्वन्तो भव्या निरन्तरं संवेगरङ्गशालमध्यपातिनो रागद्वेषप्रमादादिवैरिभिर्न क्षणमपि पराभूयन्त इत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥ तथा कृतशिवसुखार्थिसेवः=विहितमुक्तिसाताभिलाषिपर्युपास्तिः, अभयदेवनामा श्रीयुगप्रवरगणधरः, की-

दशः १ 'अवगयसमयपयखेवो' त्ति, सूचनमात्रत्वात्सूत्रस्यात्र क्षेपशब्देन निक्षेपो गृह्यते, ततः—अवगतो=विज्ञातः समयपदानां—सिद्धान्तशब्दानां क्षेपो=निक्षेपो नामादिविन्यासो येन स अवगतसमयपदक्षेपः, नानाविधविशुद्धसिद्धान्तामृतपानरसिको हि भगवानिति भावः तथा च सिद्धान्ते—

" नामं ठवणा दविए, खित्ते काले भवे य भावे य । एसो खलु ओहिस्सा, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥ १ ॥ "

इत्यवधिपदस्य सप्तधा निक्षेपो भणितः । अथवा सह मदेन=दर्पेण वर्त्तन्त इति समदाः=साहङ्काराः, [1]पदानि=शब्दवाक्यानि, तेषां क्षेपः=प्रेरणम् उच्चारणमिति यावत्, समदानां दर्पोद्धुरकन्धराणां वादिनां पदक्षेपः=पदवाक्योच्चारणं समदपदक्षेपः, ततः अपकृतः=तत्त्वाप्रतिपादकत्वलक्षणप्रतिज्ञाहानिप्रतिज्ञान्तरप्रतिज्ञाविरोधाद्यभिधानद्वाविंशतिनिग्रहस्थानप्रोद्भावनेन बाधितो निरुत्तरीकृतो निषिद्ध इति यावत् समदपदक्षेपो येन स अपकृतसमदपदक्षेपः=निरन्तरविसृत्वरोद्धुरतरगीर्वाणवाणीकृपाणीप्रहारदारितदर्प्पिष्ठदुरूढदुर्वादिवृन्द इत्यर्थः । अपगतो=दूरीभूतः समयपदानां=सिद्धान्तवाक्यानां [2]क्षेपो=निन्दा लङ्घनं वा अतिक्रमणं यस्मात्स अपगतसमयपदक्षेप इति वा । यदि वा—सम[3]यः=सिद्धान्तः १ साध्वा-

1 " पदं स्थाने विभक्त्यन्ते, शब्दे वाक्येऽङ्कवस्तुनोः ॥ २–२४१ ॥ त्राणे पादे पादचिह्ने व्यवसायापदेशयोः । " (२–२४२) इति हैमानेकार्थसंग्रहः ॥

2 " ......क्षेपो, गर्वे लङ्घननिन्दयोः ॥ २–३०५ ॥ विलम्बे–रण–हेलासु, " (२–३०६) इति हैमानेकार्थसङ्ग्रहः ।

3 " समयः—शपथे भाषा–संपदोः काल–संविदोः ॥३–११०९॥ सिद्धान्ता–चार–सङ्केत–नियमा–वसरेषु च । क्रियाकारे च निर्देशे, "......॥३–१११०॥" इति हैमानेकार्थसङ्ग्रहः ।

चारः २ सङ्केतः ३ अवसरो ४ नियमो ५ वा, पदं=स्थानं संयमक्षेत्रासंयमक्षेत्ररूपं क्षेपश्च=समयोचितो विलम्बः, ततः अवगताः=ज्ञाताः समयपदक्षेपा येन स अवगतसमयपदक्षेप इत्यर्थः । यच्छिष्यः ' विहियनवंगवित्तिजलधोयजललेवो ' त्ति, अत्र ' जललेवो ' इत्यत्र डलयोरेकत्वात् ' जड ' इति ज्ञेयम्, तत्रापि ' द्रव्यानयने भावानयन '-मिति न्यायाज्जाड्यमिति द्रष्टव्यं, ततः-विहिता=रचिता स्वयमिति गम्यते विशेषेण मुक्त्यर्थिनां सिद्धान्तशरणानां शुद्धात्मनामेकान्तेनैव हिता=पथ्या मुक्तिमार्गदर्शनदीपिकाकल्पत्वेन वा विहिता नवसंख्यानां स्थानाङ्गादीनामङ्गानां वृत्तिः=विवरणं नवाङ्गवृत्तिः, विहिता चासौ नवाङ्गवृत्तिश्च सैव जलं=सलिलं विहितनवाङ्गवृत्तिजलं, तेन धौतः=प्रक्षालितो जाड्यलेपः=अज्ञानपङ्कपुटो येन स विहितनवाङ्गवृत्तिजलधौतजललेपः । एतच्च न वाग्देवताप्रसादोल्लसितवाग्विलासानां नवाङ्गीविवरणकरणमत्यद्भुततमं निस्सीमशेमुषीसमुल्लासविलासवासभवनत्वाद्विपश्चितां, तदुक्तम्—

" उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं, सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति ।

इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलिताः, सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते ॥ १ ॥ " इति ।

अथानन्तरविशेषणार्थमेव भङ्ग्यन्तरेण स्पष्टयति येन नवाङ्गविवरणं विहितं विधिना=गुरुपदेशानुसारादिना समं=सह शिवश्रिया=सिद्धिलक्ष्म्या कर्तुं=विधातुं नवम्=अननुभूतपूर्वं नूतनं जवि=पृथिव्यां वरणमिव, इव शब्दाध्याहारः कार्यः " सोपस्काराणि वाक्यानी " त्युक्तेः, वरणकं च-अविधवयुवतीमधुरमङ्गलोच्चारकुमारिकामुखकमलघुसृणमण्डनालङ्कारदानादिपूर्वकः परिणयनसत्यङ्कारदानप्रकारः प्रसिद्ध एव । किं कृत्वा ? उज्झित्वा=त्यक्त्वा भवयुवतीसंयोगं-भवः=संसारः स

एव युवती तस्याः संयोगं=संघर्षं, वर्त्तमाने भवे जन्मनि वा युवतीसंयोगं=नारीपरिभोगम्, अङ्गीकृतं निरुपचरितचारित्रश्रीसमुपगूढत्वाद्भगवत इति । तथा यैर्बहुशिष्यैः=प्रभूतविनेयैः शिवपुरपथप्रस्थितानां=निर्वाणनगरमार्गं प्रति प्रचलितानां भव्यानां=मोक्षार्थिप्राणिनां सरला=अकुटिला सरणिः=पद्धतिर्मार्ग इत्यर्थः, कथिता=उक्ता, पुंस्त्वमत्र प्राकृतत्वात्, ते भव्या येन मार्गेण यान्ति=गच्छन्ति तकत्=शिवपुरं पूर्वनिर्दिष्टम् ॥ ७५ ॥ तथा गुणकणमपि=गुणलेशमपि परिकथयितुं=वर्णयितुं न शक्नोति सत्कविरपि=महाविचक्षणोऽपि येषामाराध्यपदाम्भोजानां स्फुटं=प्रकटमेतत्, तेषां जिनेश्वरसूरीणां चरणशरणं प्रपद्ये, इति गाथात्रयोदशकार्थः ॥ ६४=७६ ॥

इह श्रीजिनेश्वरसूरीणां शिष्यादिपरिवारनाममात्रं किञ्चिल्लिख्यते–'दृष्टान्तो व्यासार्थिना वृत्तेरवरोयः'।

श्रीजिनेश्वरसूरिभिर्विहारं कुर्वद्भिर्जिनचन्द्रा–भयदेव–धनेश्वर–हरिभद्र–प्रसन्नचन्द्र–धर्म्मदेव–सहदेव–सुमति–प्रभृतयो बहवः शिष्याश्चक्रिरे । पश्चाज्जिनचन्द्राभयदेवौ गुणपात्रं विज्ञाय सूरिपदे निवेशितौ, क्रमेण युगप्रवरौ जातौ । अन्यौ द्वौ सूरी धनेश्वरो जिनभद्रनामा, तृतीयो हरिभद्राचार्यः । तथा धर्म्मदेव–सुमति–विमल–नामानस्त्रय उपाध्यायाः कृताः । श्रीधर्मदेवोपाध्यायसहदेवगणी द्वावपि भ्रातरौ, श्रीधर्मदेवोपाध्यायेन हरिसिंह–सर्वदेवगणिभ्रातरौ सोमचन्द्रपण्डितः शिष्या विहिताः । सहदेवगणिना अशोकचन्द्रः शिष्यः कृतः, स चातीववल्लभ आसीत्, स च श्रीजिनचन्द्रसूरिणा विशेषेण पाठयित्वा सूरिपदं निवेशितः तेन च स्वपदे हरिसिंहाचार्यो विहितः । अन्यौ द्वौ सूरी प्रसन्नचन्द्र–देवभद्राभिधेयौ । देवभद्रः सुमत्युपाध्यायशिष्यः । प्रसन्नचन्द्राचार्यप्रभृतयश्चत्वारोऽभयदेवसूरिणा पाठितास्तर्कादिशास्त्राणि, अत एवोक्तं श्रीचित्रकूट-

श्रीजिनेश्वरसूरिशिष्यनामावलि॥

सत्क(टीय)प्रशस्तौ श्रीजिनवल्लभसूरिभिः, यथा—

" सत्तर्कन्यायचर्चार्चितचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः, सूरिः श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनिर्देवभद्रः ।
इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवकलशभुवः संचरिष्णूरुकीर्त्तिः स्तम्भायन्तेऽधुनाऽपि श्रुतचरणरमाराजिनो यस्य शिष्याः ॥१॥"

श्रीजिनेश्वरसूरय आशापल्यां विहृताः, तत्र च व्याख्याने विचक्षणा उपविशन्ति ततो विदग्धमनःकुमुदचन्द्रिकासहोदरी संविग्नवैराग्यवर्द्धिनी लीलावत्यभिधाना कथा विदधे । तथा डिंडियाणकग्रामप्राप्तैः पूज्यैः व्याख्यानाय चैत्यवास्याचार्याणां पार्श्वाद् याचितः पुस्तकः, तैः कलुषितहृदयैर्न दत्तः, पश्चिमप्रहरद्वये विरच्यते प्रभाते व्याख्यायते, इत्थं कथानककोशश्चतुर्मास्यां कृतः । तथा मरुदेवा नाम गणिन्यभूत्, तया चानशनं गृहीतम्, चत्वारिंशद्दिनानि स्थिता । श्रीजिनेश्वरसूरिभिः समाधानमुत्पादितं तस्याः, भणिता च–यत्रोत्पत्स्यसे तत्स्थानं निवेदनीयम् । तयापि 'एवं भगवन् ! विधास्ये' इति प्रतिपन्नम् । पञ्चपरमेष्ठिनः स्मरन्ती सा स्वर्गं गता, जातो देवो महर्द्धिकः । एवं च तावदेवम्–इतश्च श्राद्ध एको युगप्रधाननिश्चयार्थं श्रीउज्जयन्तगिरौ गत्वा " साधिष्ठायकं सिद्धिक्षेत्रमेतदतोऽम्बिकादिदेवताविशेषो यदि मम युगप्रधानं प्रतिपादयिष्यति ततोऽहं भोक्ष्ये नान्यथा " इति सत्त्वमालम्ब्यावस्थित उपवासान् कर्त्तुमारब्धः । एतस्मिन्नवसरे महाविदेहे श्रीतीर्थङ्करवन्दनार्थं गतस्य श्रीब्रह्मशान्तेस्तेन आर्यिकाजीवदेवेन संदेशो दत्तः, यथा–'त्वया श्रीजिनेश्वरसूरीणामग्रे इदं निवेदनीयं' तथाहि—

" मरुदेविनाम अज्जा, गणिणी जा आसि तुम्ह गच्छम्मि । सग्गम्मि गया पढमे, जाओ देवो महिड्ढीओ ॥ १ ॥
टक्कलयम्मि विमाणे, दुसागराऊ सुरो समुप्पन्नो । समणेसरस्स जिणेसर,–सूरिस्स इमं कहिज्जासि ॥ २ ॥

टक्कउरा जिणवंदण,-निमित्तमेवागएण संदिट्ठं । चरणम्मि उज्जमो मे, कायव्वो किं च सेसेहिं ॥ ३ ॥"

तेनापि ब्रह्मशान्तिना स्वयं गत्वाऽसौ संदेशकः सूरिपादानां पुरो न प्रकाशितः, किन्तु युगप्रधाननिश्चयार्थप्रारब्धोपवासः श्रावक उत्थापितः, ततस्तस्याञ्चले लिखितान्यक्षराणि यथा-'म । ट । ट ।' भणितश्च-गच्छ पत्तने यस्याचार्यस्य हस्तेन प्रक्षालितानि यास्यन्त्येतान्यक्षराणि स एवेदानींतनकाले भारते वर्षे युगप्रधानः, ततस्तेन श्रीनेमिजिनं वन्दित्वा कृतपारणकेन पत्तनमागतेन सर्वासु वसतिषु गत्वा दर्शितानि तान्यक्षराणि परं न केनापि बुद्धानि । यदा तु श्रीजिनेश्वरसूरीणां वसतौ गत्वा दर्शितान्यक्षराणि तदा वाचयित्वा गाथात्रयमेतदिति समुत्पन्नप्रातिभैः चेतसि पर्यालोच्य सूरिभिस्तान्यक्षराणि प्रक्षालितानि । ततस्तेन श्रावकेण चिन्तितं-'युगप्रधान एषः' इति विशेषतो गुरुत्वेन चाङ्गीकृतः । इत्येवं श्रीमहावीरतीर्थकरदर्शितधर्मप्रभावनां विधाय श्रीजिनेश्वरसूरयो देवलोकं प्राप्ता इति ॥

अथ गाथा प्रस्तुता प्रस्तूयते—

जुगपवरागमजिणचं-दसूरिविहिकहिअसूरिमंतपओ। सूरी असोगचंदो, मह मण-कुमुयं वियासेउ॥७७॥

व्याख्या-अशोकचन्द्रसूरिः पूर्वनिर्दिष्टः श्रीजिनदत्तगुरुणामुपस्थापनाकर्त्ता 'ममे'त्यनेन प्रकरणकार उपकारं स्मरन्नात्मानं निर्दिशति-मन एव=चित्तमेव कुमुदं=कैरवं विकाशयतु=विस्फारयतु । न विद्यते शोकः प्रस्तावात् सैंहिकेयकृताङ्गव्यथा शोकशब्देनात्रोपलक्ष्यते, स नास्ति यस्य स अशोकः, तादृशस्यैव हि चन्द्रस्य कुमुदविकाशने सामर्थ्यम्, अशोकश्चासौ

चन्द्रश्चाशोकचन्द्रः, तादृशश्चन्द्रः कुमुदं विकाशयति, इत्यभिप्रायेणोक्तं मनःकुमुदमिति । अशोकचन्द्रसूरेर्विशेषणमाह-श्रीजिनेश्वरसूरीणामनन्तरभाविना युगप्रवरागमेन=युगप्रधानसिद्धान्तेन जिनचन्द्रसूरिणा विधिना=आगमोक्तेन कथितानि=श्रोत्रे प्रतिपादितानि सूरिमन्त्रस्य-आचार्यमन्त्रस्य पदानि=वचनानि यस्य स युगप्रवरागमजिनचन्द्रसूरिविधिकथितसूरिमन्त्रपद इति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

अथ दीक्षादायकं स्वकीयं स्मृतिगोचरमानीय प्रसादयन्नाह—

कहिअगुरु-धम्मदेवो, य धम्मदेवो गुरू उवज्झाओ। मज्झ वि तेसिं तु दुरंतदुहहरो सो लहु होउ ॥७८॥

व्याख्या—गुरुः-आचार्यः धर्म्मः=अहिंसादिलक्षणः देवश्च=अष्टादशदोषविनिर्मुक्तोऽर्हन्, ततः कथिताः-उपदिष्टा गुरुधर्म्मदेवा येन स कथितगुरुधर्म्मदेवः, 'च' शब्दो भिन्नक्रमः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः, स चाग्रेतनपदेन योज्यते, धर्म्मदेवश्च-उपाध्यायः=उपेत्याधीयते यस्मादिति व्युत्पत्त्या । कीदृश उपाध्यायोऽपि ? गुरुः=मद्दीक्षादायकत्वेन आचार्यः, 'अपि'-'तु' शब्दयोश्चार्थत्वान्मम च तेषां च अशोकचन्द्रसूरीणां सकललोकविख्यातो भवतु=संपद्यताम् । कीदृशः ? दुष्टः, अन्तः=अवसानं येषां तानि दुरन्तानि, तानि च तानि दुःखानि च=कृच्छ्राणि च दुरन्तदुःखानि, तानि हरतु लघु=शीघ्रम् । द्वौ 'च'शब्दौ दुरन्तदुःखहरत्वं प्रति तुल्यकक्षताद्योतकाविति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

अथ तस्यैव शिष्यमनुनयन्नाह—

तस्स विणेओ निद्दलिअगुरुगओ जो हरि व्व हरिसीहो ।
मज्झ गुरू गुणिपवरो, सो मह मणवंछिअं कुणउ ॥ ७९ ॥

व्याख्या—तस्यैव=धर्म्मदेवोपाध्यायस्य विनेयः=अन्तेवासी मम गुरुः सिद्धान्तवाचनादायकत्वेन । तथा गुणिषु=ज्ञानदर्शनचारित्रवत्सु प्रवरः=प्रकृष्टः सः, कः ? हरिसिंहः=हरिसिंहाभिधः सूरिः मम मनोवाञ्छितं=हृदयाभीष्टं करोतु=विदधातु । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादाह–यो हरिरिव=पञ्चवक्त्र इव । उभयोरपि विशेषणसाम्यमाह–' निद्दलिअगुरुगओ ' त्ति, सूरिपक्षे–निर्दलिता=ध्वंसिता गुरवो=महान्तो गदाः–कासश्वासादयो रोगा येन स निर्दलितगुरुगदः । हरिपक्षे च–निर्दलिताः–विदारिताः गुरुगजाः–अत्युच्चा हस्तिनो येन स तथा, इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

तस्यैव ज्येष्ठभ्रातरं स्मरन् स्तौति—

तेसिं जिट्ठो भाया, भायाणं कारणं सुसीसाणं । गणिसव्वदेवनामा, न नामिओ केणइ हठेण ॥८०॥

व्याख्या—तेषां=धर्मदेवोपाध्यायानां ज्येष्ठो=गरिष्ठो भ्राता=सहोदरः सुशिष्याणां=शोभनविनेयानां यानि भाग्यानि=पुण्यानि तेषां कारणं=निदानम् । एतावता क्षुल्लकप्रवर-वस्त्र-पात्र-दण्डक-लोचिका-भक्तपानकसंपादन-प्रतिपालनक्रियाकलाप-शिक्षणैः सम्यग्वैयावृत्त्यकरत्वं तस्य सूचितम् भवति । किंनामधेयोऽसौ ? तत्राह–गणिश्चासौ सर्वदेवनामा च गणिसर्वदेवनामा । कीदृशः ? न नामितः=न स्वतेजसा भ्रंशितः पराभूत इति यावत्, केनापि क्षत्रियादिना, केन ? हठेन=बलात्कारेण । अद्यापि

यस्य सर्वदेवगणेः स्तम्भतीर्थवेलाकूल-निकटवर्त्तिशाखिस्थलग्रामक्षेत्रभुवि स्तूपो मिथ्यादृष्टिभिरपि सप्रभावत्वेन रक्ष्यमाणः पूज्यमानो विद्यत इति गाथार्थः ॥ ८० ॥

अथ श्रीदेवभद्रसूरीणामत्यन्तमुपकारिणामुपकारं संस्मरन् कृतघ्नत्वं निराकुर्वंस्तेभ्यो नमस्कारमाविश्चिकीर्षुर्गाथात्रितयमाह-

सूर-ससिणोऽवि न समा, जेसिं जं ते कुणंति अत्थमणं। नक्खत्तगता मेसं, मीणं मयरंपि भुंजंते ॥८१॥

जेसिं पसाएण मए, मएण परिवज्जिअं पयं परमं। निम्मलपत्तं पत्तं, सुहसत्तसमुन्नइनिमित्तं ॥८२॥

तेसिं नमो पायाणं, पायाणं जेहिं रक्खिआ अम्हे। सिरिसूरिदेवभद्दाण सायारं दिन्नभद्दाणं ॥८३॥

व्याख्या—तेषां=श्रीसूरिदेवभद्राणां पादेभ्यो नम इति संटङ्कः। येषां, किं? मित्याह-न समौ=न तुल्यौ, कौ? सूरः= अर्यमा शशी=चन्द्रमाः, सूरश्च शशी च सूरशशिनौ आस्तामन्ये अप्रकटोपकारिणः, इत्यपि शब्दार्थः। कथं ताभ्यां सह साम्यम्? तत्राह-यस्मात्तौ सूरशशिनौ कुरुतः=विधत्तः,किम्? 'अत्थमणं'ति श्लिष्टं पदमेतत्, तत्र सूर्याचन्द्रमसोः पक्षे अस्तमयम्=अस्तम्, ते च भगवन्तः श्रीदेवभद्राचार्याः अर्थे=वित्तविषये मनः अर्थमनस्तन्न कुर्वन्ति परित्यक्तस्वजनकनकत्वात्तेषाम्। पुनः कीदृशावेतौ? इत्याह-क्षत्रं=सदाचारं गतौ=प्राप्तौ क्षत्रगतौ तादृशौ, न असदाचारावित्यर्थः, एवं नामाऽसदाचारः, येन मेषम्=एडकं मीनं= पृथुरोमाणं[1] मकरमपि=जलजन्तुविशेषमपि भुञ्जाते, अत्यन्तमधमा एवैवं कुर्वते, इति प्रतीयमानार्थेन तयोरसाधारणोद्भावनम्।

१ पृथुरोमाणं—मत्स्यम्।

अथ च नक्षत्रगतौ=अश्विन्यादिऋक्षपादनवकसंस्थौ मेषं मीनं मकरं च राशिविशेषं समधितिष्ठतः सूर्यचन्द्राविति, तथा च लोको वदति–मेषं भुक्त्वा इदानीं सूर्यो वृषे संक्रान्तः, एवं चन्द्रोऽपि मीनं भुक्त्वा इदानीं चंद्रो मेषे स्थित इत्यादि। प्रथमपक्षे च न कदाचिदसदाचारं=प्राणिवधानृतभाषणस्तैन्याब्रह्मसेवादिकं गताः=आचीर्णवन्तः, नापि मेषमीनमकरोपभोगं मनसापि विदधति ते श्रीपूज्यपादाः ॥ ८१ ॥ तथा 'येषां प्रसादेन–अनुग्रहेण मया परमं=प्रकृष्टं सर्वपदोत्तमं पदम्–आचार्यपदमित्यर्थः प्राप्तं=लब्धम्। कीदृशं यत्परमं पदम्? तत्राह–परिवर्जितं=त्यक्तं, केन? मदेन=अहङ्कारेण। पुनः कीदृशम्? निर्मलानि–निर्दूषणानि विनयादिगुणान्वितानि पात्राणि=" पात्रं तु कूलयोर्मध्ये, पर्णे नृपतिमन्त्रिणि। योग्यभाजनयोर्यज्ञ–भाण्डे नाट्यानुकर्त्तरि ॥ १ ॥" इति हैमानेकार्थवचनात् (२–४४४), ज्ञानादियोग्यानि यत्र 'तत्' निर्मलपात्रम्। अनेन च परमपदविशेषणद्वयेनात्मनो निरहंयुता स्वगच्छस्य च पात्ररत्नाकरत्वमावेदितम् भवति। किमर्थं परमं पदं प्राप्तम्? इत्याह–शुभा=धर्मयोग्या ये सत्त्वाः=जीवास्तेषां समुन्नतिः=अभ्युदयस्तन्निमित्तं=तद्धेतवे शुभसत्त्वसमुन्नतिनिमित्तम्। अनेन च स्वस्य भावपरोपकृतिकारित्वं सूचितं स्यादिति ॥ ८२ ॥ तथा तेभ्यः पादेभ्यो नमः यैः रक्षिताः=त्राता वयम्। केभ्यः? पातेभ्यः–पतनेभ्यः विनाशेभ्य इत्यर्थः युगप्रधानपदपालनादविनाशिपदप्राप्तेरिति भावः। श्रीसूरिदेवभद्राणां, कीदृशानाम्? सादरं=ससंभ्रमं दत्तं=वितीर्णं भद्रं=कल्याणं यैस्तादृशानां तथाविधोपदेशशास्त्रविरचनेन व्याख्यानेन च भव्यानां कल्याणपदप्राप्तेरित्याकूतमिति गाथात्रयार्थः ॥ ८१=८२=८३ ॥

श्रीदेवभद्रसूरिभ्यः श्रीजिनवल्लभसूरिभ्यश्च यैः सूरिपदं प्रदत्तं तानाह—

सूरिपयं दिन्नमसोगचंदसूरीहिं चत्तभूरीहिं । तेसिं पयं मह पहुणो, दिन्नं जिणवल्लहस्स पुणो ॥८४॥

व्याख्या—'तेसिं' ति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी प्राकृतत्वात्, तेभ्यः श्रीदेवभद्रसूरिभ्यः सूरिपदम्—आचार्यपदं दत्तं=वितीर्णम् । कै ?रित्याह–अशोकचन्द्रसूरिभिः=श्रीजिनचन्द्रसूरिप्रसादीकृताचार्यपदैः । तथा च एभिरेव प्रकरणकारिप्रभुभिर्विंशिकायामभ्यधायि—

" अभिषेकवरसहोदर,–सहदेवगणेस्ततोऽभवच्छिष्यः । सूरिस्त्वशोकचन्द्रो–जिनचन्द्राचार्यदत्तपदः ॥ १ ॥"

कीदृशैस्तैः ? त्यक्तो[1]=मुक्तो भूरि[2]–काञ्चनं यैस्ते तथा तैः । उक्तञ्च तैरेव तत्रैव[3] ॥

" सूरिः प्रसन्नचन्द्रो, हरिसिंहो देवभद्रसूरिरपि । सर्वेऽप्येते विहिताः, सूरिपदेऽशोकचन्द्रेण ॥ १ ॥"

'तेसिं'इति पुनरावृत्त्य योज्यते,तत्र तृतीयार्थे षष्ठी,ततो यैः पुनर्दत्तं,किं तत्?पदं=सूरिपदमित्यर्थः,कस्य?प्रभोः,स्वामिनः कस्य? मम, किं नामधेयस्य ? तत्राह–जिनवल्लभस्य='जिनवल्लभः' इति सुगृहीत नामधेयस्य । तथा च विंशिकायामेतदेवोक्तम्—

" इत्तोऽप्यभयदेवाख्य,–सूरेः श्रीश्रुतसम्पदम् । समवाप्य ततो मत्वा, चैत्यवासोऽस्ति पापकृत् ॥ १ ॥

श्रीमत्कूर्चपुरीय-श्रीसूरेर्जिनेश्वरस्य शिष्येण । जिनवल्लभेन गणिना, चैत्यनिवासः परित्यक्तः ॥ २ ॥

१–'त्यक्तं=मुक्तं भूरि=काञ्चनं' इति भव्यम्, काञ्चनवाचिभूरिशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् । २ 'भूरि स्वर्णे प्रचुरे च' इति हैमानेकार्थसंग्रहः (२–४५२) ३ तत्रैव-विंशिकायाम् ।

कृताङ्गिगणभद्रेण, देवभद्रेण सूरिणा । श्रीचित्रकूटदुर्गेऽस्मिन्, सोऽपि सूरिपदे कृतः ॥ ३ ॥"

अयं चार्थः समस्तोऽपि पूर्वाचार्याम्नायप्रतिपादनेन पूर्वमेव स्फुटीकृत इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

अथायं सुगुरुबहुमानवान् भगवान् प्रकरणकारस्तमेव श्रीजिनवल्लभसूरिम् " अत्थगिरिमुवगएसुं " इत्यादिना " तप्पय-पउमं पाविअ जाओ जायाणुजाओहं (१४६) " इत्यन्तेन द्वापष्टिगाथासमुदायेन स्तुत्वा त्रिपष्टितम गाथा (१४७) पूर्वार्द्धेन वन्दमानः प्राह—' तमणुदिणं दिन्नगुणं, वंदे जिणवल्लहं पहुं पयओ ' । (१४७) त्ति ।

अत्थगिरिमुवगएसुं, जिण-जुगपवरागमेसु कालवसा । सूरम्मि व दिट्ठिहरेण, विलसिअं मोहसंतमसा ॥
संसारचारगाओ, निविन्नेहिं–पि भवजीवेहिं । इच्छंतेहि वि मुक्खं, दीसइ मुक्खारिहो न पहो ॥
फुरिअं नक्खत्तेहिं, महागहेहिं तओ समुल्लसिअं । वुड्ढी रयनिअरेणावि पाविआ पत्तपसरेण ॥८७॥
पासत्थकोसिअकुलं, पयडीहोऊण हंतुमारद्धं । काए कए य–विघाए, भावि भयं जं न तं गणइ ॥८८॥
जग्गंति जणा थोवा, स–परेसिं निव्वुइं समिच्छंता । परमत्थरक्खणत्थं, सद्दं सद्दस्स मेलंता ॥८९॥
नाणा सत्थाणि धरंति ते उ जेहिं वियारिऊण परं । मुसणत्थमागयं परि,-हरंति निज्जीवमिह काउं ॥
अविणासिअजीवं ते, धरंति धम्मं सुवंसनिप्फन्नं । मुक्खस्स कारणं भय–निवारणं पत्तनिव्वाणं ॥

धरिअकिवाणा केई, स–परे रक्खंति सुगुरुफरयजुआ। पासत्थचोरविसरो, वियारभीओ न ते मुसइ ॥
मग्गुम्मग्गा नज्जंति नेय विरलो जण त्थि मग्गण्णू। थोवा तदुत्तमग्गे, लग्गंति न वीससंति घणा ॥
अन्ने अन्नत्थीहिं, सम्मं सिवपहमपिच्छिरेहिं पि। सत्था सिवत्थिणो चालिआ वि पडिआ भवारन्ने॥
परमत्थसत्थरहिएसु भवसत्थेसु मोहनिद्दाए। सुत्तेसु मुसिज्जंतेसु पोढपासत्थ–चोरेहिं ॥ ९५ ॥
असमंजसमेयारिस,–मवलोइअ जेण जायकरुणेण। एसा जिणाणमाणा, सुमरिआ सायरं तइया॥

गाथाद्वादशकव्याख्या—"तमणुदिणं दिन्नगुणं वंदे जिणवल्लहं पहुं पयओ (१४७)"त्ति। श्रीजिनवल्लभसूरिं प्रभुं=स्वामिनं प्रयतः=आदरेण वन्दे=अभिवादयामि। कीदृशम्? दत्ता=वितीर्णा भव्यप्राणिनां गुणाः=ज्ञानादयो येन तं दत्तगुणम्, यदि वा–गुणो[1]=रज्जुस्ततश्च दत्तः=अवतारितः संसारकूपान्तर्निमज्जज्जन्तुजातोद्धरणाय गुणः=संवेगरससारद्वादशकुलकादिरूपा रज्जुर्येन, दत्ता वा सत्त्वानां जीववीर्योल्लासनेन कर्म्मारातिनिर्दलनाय शौर्यादयो गुणा येन तं दत्तगुणं, तं वन्दे (१४७) (९६) येन, किं?–मित्याह–स्मृता=हृदि व्यवस्थापिता स्मरणपथमानीतेति यावत्, काऽसौ? आज्ञा=वचनम् आदेशः, चकारात् कर्त्तुमवसिता च

१ " गुणो ज्या–सूत्र–तन्तुषु ॥ रज्जौ सत्त्वादौ संध्यादौ, शौर्यादौ भीम इन्द्रिये। रूपादावप्रधाने च, दोषान्यस्मिन् विशेषणे ॥ १ ॥" (हैमानेकार्थसंग्रहः श्लो. १५३–१५३)

लीभूतम् । तथा 'वुड्ढीरयणिअरेणावि' त्ति, प्राप्ता=लब्धा वृद्धिः=उपचयः, रजो=बध्यमानं कर्म्माधर्म्मरूपं तस्य निकरः-समूहस्तेन रजोनिकरेणापि, पूर्वापेक्षयाऽपि समुच्चये, प्राप्तप्रसरेण=लब्धावकाशेनेति । संतमसोल्लासपक्षे तु नक्षत्रैः=ऋक्षैः स्फुरितं=व्यक्तीभूतं महाग्रहैश्च=गुरुशुक्रादिभिः समुल्लसितम्=अतिशयेन दीप्तीभूतम् । वृद्धिः-पुष्टिः रजनिकरेणापि=चन्द्रमसा प्राप्ता प्राप्तप्रसरेण ॥ ८७ ॥ तथा 'पासत्थकोसिअकुलं पयडीहोऊण हंतुमारद्धं काए' ज्ञानादीनां पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, अत्रोपलक्षणत्वादन्येऽप्यवपण्णादयः, त एव कौशिकाः 'कौशिकः शक्रघूकयोः ॥ कोशज्ञे गुग्गुलावाहि तुण्डिके नकुले मुनौ ॥" इति (हैमानेकार्थ० ३-६३६) वचनात् इन्द्रा=अधिपतयस्तेषां कुलं "कुलं सङ्घः कुलं गोत्रं, शरीरं कुलमुच्यते" इति (शब्दरत्नप्रदीप) वचनात् कुलं=सङ्घः कौशिककुलं प्रकटीभूय-प्रत्यक्षीभूय हन्तुं=निःशङ्कं विध्वंसयितुं सचित्तपृथिवीमर्दन-सचित्तजलपान-दीपादितेजस्कायविराधन-तालवृन्तादिवीजनादि-प्रकारैः कायान्-षड्जीवनिकायान् आरब्धं=प्रवृत्तम् । ननु षट्कायवधादात्मनो भविष्यद्दुर्गतिपाताच्चे किं न बिभ्यति ?, सत्यम्, एतदेवाह-'एयविघाए' एतेषां कायानां विघाते-विनाशे भावि=आगामि यद्भयं=नरकपातादिवासः, तं न गणयति=नावेक्ष्यते पार्श्वस्थकौशिककुलमिति सम्बन्धः, सान्दृष्टिकफलमात्रप्रतिबद्धा हि गुरुकर्म्माणः सत्त्वा नोदर्कफलं पर्यालोचयन्तीति भावः । सन्तमसपक्षे च पार्श्वस्थं=निकटवर्त्ति कौशिककुलम्-उलूकवृन्दं प्रकटीभूय=पर्वतगुहादिभ्यो निःसृत्य हन्तुं=त्रोटिप्रहारैस्त्रोटयितुमारब्धमिति पूर्ववत् । कान् ? इत्याह-'काए'त्ति काकान्-वायसान्, यतो यस्माद्धेतोः, तत्-कौशिककुलं माविभयं=काकेभ्यश्चञ्चुचुण्टनादि-भविष्यद्भीतिं न गणयति=न विचारयति मूढत्वादित्यर्थः ॥ ८८ ॥ 'जग्गंति' इत्यादि । विवेकजागरिकया जाग्रति-स्फूर्जन्ति जनाः=लोकाः स्तोकाः=परिमिताः

सम्यग्दृष्टिसुसाधुसुश्रावकादय इत्यर्थः, मिथ्यादृशां तु महामोहनिद्रामुद्रितविवेकलोचनानां कौतस्कुती जागरणवार्त्तेत्यर्थः कीदृशाः ? स्वपरयोः आत्मेतरयोर्निर्वृतिं="अथ निर्वृतिः । मोक्षे मृत्यौ सुखे सौस्थ्ये," इति (हैमानेकार्थ० ८६९) पाठान्मोक्षं समिच्छन्तः=अभिलषन्तः । पुनः किंविधास्ते स्तोकजनाः ? तत्राह-सेलयन्तः=योजयन्तः, कम् ? शब्दं=स्वरम्, कस्य ? शब्दस्य=स्वरस्य, किमर्थ ? मित्याह-परमार्थरक्षणार्थमिति, परमः=प्रकृष्टोऽर्थो=वाच्यं यस्य स परमार्थः=सिद्धान्तरूपः स्वाध्यायस्तस्य रक्षणार्थम्-अविस्मरणार्थम्, अविच्छिन्नस्वाध्यायकरणेन शब्दं शब्देन संबध्नन्तः । निद्राविकथाप्रमादासेवनेन हि स्वाध्यायाकरणे महाननर्थः साधूनाम्, तदुक्तम्—

" जागरह जणा ! निच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी । जो सुवइ न सो सुहिओ, जो जग्गइ सो सया सुहिओ ॥१॥
सुयइ सुयंतस्स सुयं, संकिअ खलिअं भवे पमत्तस्स । जागरमाणस्स सुयं, थिरपरिचिअमप्पमत्तस्स ॥ २ ॥
सुयइ य अयगरभूओ, सुयंपि से नासई अमयभूयं । होही अयगरभूओ, नट्ठंमि सुए अमयभूए ॥ ३ ॥
निद्दावसगो जीवो, हियमहिअं वा न याणई किंपि । तम्हा तप्परिहारेण धम्मजागरिअया सेया ॥ ४ ॥"

यदि वा-परमः-अत्यन्तश्रेष्ठः अर्थः=धनं परमार्थः, स च श्रुतमेव तस्य रक्षणार्थं, तद्रक्षणस्यैव हि सकलसुखखानिकल्पत्वात्, तदुक्तम्—

" नरपतिभिरदण्ड्यं शस्त्रघातैरखण्ड्यं, प्रकटितमपि धार्य्यं नैव चौरापहार्य्यम्,
निखिलसुखनिधायि प्राज्यमीदृग्जिनेन्द्रा-गमधनमिह धन्याः केचिदेवार्जयन्ति ॥ १ ॥"

अथवा व्याकरणतर्कालङ्कारछन्दः काव्यादीनां परमार्थस्य=गर्भार्थस्य तात्पर्यार्थस्य रक्षणार्थं शब्दं=पदं 'सद्दस्स' त्ति तृतीयार्थे षष्ठी ततः शब्देन सह मीलयन्तः=समस्यन्त इत्यर्थः । शास्त्रार्थचिन्तनाभावे हि वठरशेखराः साधवः प्रवचनोन्नतिकारिणो न भवन्ति । सन्तमसपक्षे च स्तोका आरक्षकपुरुषप्रमुखा जनाः स्वपरयोर्निर्वृतिं=सौस्थ्यं समिच्छन्तः, कीदृशाः सन्तः ? परमाः=उत्तमाः च ते अर्थाश्च=" अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु । " इति (अमर० नानार्थ० ८६) । वचनाद् वस्तूनि पदार्थाः=धनधान्यद्विपदचतुष्पदादयस्तेषां रक्षणार्थं शब्दं शब्दस्य मीलयन्तः=प्लुतस्वरेण प्राहरिकशब्दं प्राहरिकशब्दस्य संघट्टयन्त इत्यर्थः ॥ ८९ ॥ तथा 'नाणासत्थाणि' त्ति, ते तु=ते पुनः सम्यग्दृष्टिसुविहितश्रमणश्रावकादयो जना नानाप्रकाराणि दशवैकालिकावश्यकोपदेशमालादीनि शास्त्राणि=ग्रन्थान् धारयन्ति=व्याख्यानयन्ति चिन्तयन्तीति यावत् । 'जेहिं वियारिऊण परं' इति यैः शास्त्रैः कृत्वा परं=पार्श्वस्थादिकमात्मव्यतिरिक्तं मोपणार्थं=भक्षणार्थम्-आगतं=प्राप्तं विचार्य=" अहो ! औद्देशिकाधाकर्मादिभोजिनः षट्कायोपमर्दकारिणः सकिञ्चना असंयता गृहशरणप्रसक्ताः सचित्तपुष्पफलोदकोपभोगिनोऽब्रह्मसेवादिकलङ्कपङ्कनिमग्ना एते ' । तच्च सर्वमौद्देशिकोपभोगादिकमनाचीर्णं मुनीनाम्-" उद्देसिअं कीयगडं, निआगमभिहडाणि अ । " इत्यादिना, " आहाकम्मं भुंजइ, छक्कायपमद्दणो घरं कुणई । पच्चक्खं च जलगए, जो पियइ कहं तु सो साहू ॥ १ ॥ जे घरसरणपसत्ता, छक्कायरिऊ सकिंचणा अजया । नवरं मुत्तूण घरं, घरसंकमणं कयं तेहिं ॥ २ ॥" इत्यादिना च सिद्धान्तप्रतिषिद्धत्वात्साधुवेषेणैते पापा लोकमोपणं कुर्वन्ती" ति विमृश्य पार्श्वस्थादिजनं परिहरन्ति=दूरतो वर्जयन्ति, तद्वन्दनादिविधानस्य सिद्धान्ते महानर्थहेतुकत्वेन प्रतिपादनात्, तथा चोक्तम्—

" पासत्थाई वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ । कायकिलेसं एमेव कुणइ तह कम्मबंधं च ।। १ ॥ "

किं कृत्वा ते सुविहितश्रावकादयो जागरूकास्तं परिहरन्ती ? त्याह–कृत्वा=विधाय=अवगम्येत्यर्थः, कीदृशम् ? 'निजीव' मिति, जीवशब्देन जीवितमुच्यते ततो निर्गतं जीवितं सत्त्वमित्यर्थः यस्मात्तादृशं ज्ञात्वा इह=जगति, अयमभिप्रायः–शिथिलोऽपि कथञ्चिद् यदि बुध्यते तदा न परित्यज्यते, परम्–" अवि नाम चक्कवट्टी, चइज्ज सवंपि चक्कवट्टिसुहं । न य ओसन्नविहारी, दुहिओ ओसन्नयं चयइ ॥ १ ॥ " इति वचनात्सर्वथा निःसत्त्वोऽयमिति परिभाव्य तं वर्जयन्तीति । द्वितीयपक्षे च–नानाशस्त्राणि=कुन्तशक्तिचक्रादीनि आयुधानि धारयन्ति=गृह्णन्ति, ते तु=ते पुनः स्तोकजागरूकादयो यैः शस्त्रैर्विदार्य=प्रहृत्य परं=मोपणार्थमागतं तस्करादिकं परिहरन्ति=परित्यजन्ति मुञ्चन्ति निर्जीवं=विगतात्मकमिति कृत्वा ॥ ९० ॥ 'अविणासिअजीवं' इत्यादि, ते=सुविहिताः साधुश्रावकाः स्तोका जागरूका धारयन्ति=अनुतिष्ठन्ति, किम् ? धर्म्मं=क्षान्त्यादिदशभेदं स्थूलप्राणिवधविरत्यादिद्वादशभेदं च, कीदृशम् ? सु=शोभनः=शुद्धप्ररूपकत्वसंवेगसारक्रियापरत्वादिगुणोपेतो योऽसौ वंश=" वंशः सङ्घेऽन्वये पृष्ठावयवे कीचकेऽपि च । " (हैमा० ५५८) इत्यनेकार्थात् अन्वयः=आम्नाय इत्यर्थस्तत्र निष्पन्नम्, अत एवाऽविनाशिताः=विध्वंसमप्रापिता जीवाः=प्राणिनो यत्र तम् अविनाशितजीवं=धर्म्मम्, अयमर्थः–' यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा । यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥" इत्यादिकुदृष्टीनामिव न क्वाप्यर्हद्धर्म्मे प्राणिघातोपदेश इति । पुनः कीदृशम् ? मोक्षस्य=मुक्तेः कारणं=हेतुः, भयं=त्रासं संसारान्नि-

१ जीवः स्यान् त्रिदशाचार्ये, द्रुमभेदे शरीरिणि । जीवितेऽपि च..." (हैमानेकार्थ० ५२७) ॥ २ " वंशः संघेन्वये वेणौ पृष्ठावयवेऽपि च" पाठा० ॥

वारयति=निषेधयतीति भयनिवारणम्। तथा प्राप्तं निर्वाणं=निर्वृत्तिर्भव्यसत्त्वैर्यस्मात्तं प्राप्तनिर्वाणम्। अनेन कारणस्यैव निरुपहतत्वमवश्यं स्वसाध्यसाधकत्वेनोक्तम्। प्रतीयमानार्थपक्षे च-ते स्तोका जागरूकाः धारयन्ति=उपाददते, किम्? इत्याह-धर्म्मं="धर्मो यमो-पमा-पुण्य-स्वभावा-चार-धन्वसु ॥ ३३५ ॥ सत्सङ्गे-ऽर्हत्यहिंसादौ, न्यायो-पनिषदोरपि (३३६)" इति (हैमानेकार्थ० ३३५-६) वचनाद् धनुः, कीदृशम्? अविनाशिता जीवा=मौर्वी यस्य तत् अविनाशितजीवम्। पुनः कीदृक्? सु=शोभनो=नीरन्ध्रोऽलग्नकीटको यो वंशः=वेणुस्तस्मान्निष्पन्नं=कृतं सुवंशनिष्पन्नं मोक्षस्य=विशिखानां मुक्तेर्मोचनस्य कारणम्। न हि तादृक्कोदण्डमन्तरेण शराणां मोक्षणं स्यादत एव प्राप्ता=आसादिताः निर्=निश्चिता वाणाः=शरा येन तत्प्राप्तनिर्वाणम्। न ह्ययोजितकाण्डं कोदण्डं काण्डमोक्षाय संपद्यते। तादृशं च तत्कीदृशं भवेत् इत्याह-भयनिवारणं=तस्करादित्रासप्रतिषेधकम् ॥ ९१ ॥ तथा 'धरियकिवाणा केई' इत्यादि, केचित्तु सुविहिताः सुश्रावकाश्च स्वपरान्=आत्मेतरान् रक्षन्ति=अवन्ति। कीदृशाः सन्तः? धृता=स्वीकृता कृपा=करुणा तत्प्रधाना आज्ञा=भगवद्वचनं यैस्ते धृतकृपाज्ञाः। (सैव परम्परितरूपकेण कृपाणः=खड्गो यैस्ते गृहीतकृपाज्ञाकृपाणाः) आरक्षकपक्षे तु धृतकृपाणा इति व्यक्तम्। तथा सुगुरुरेव=शोभनधर्म्माचार्य एव शासनविपक्षक्षिप्तकदुपन्यासविशिखरक्षकत्वेन स्फरकः=खेटकस्तेन युताः=सहिताः। गुरुलक्षणं चेदं तथा—

"अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्त्तते, प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।
स सेवितव्यः स्वहितैषिणा गुरुः, स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥ १ ॥"

इत्यादिगुणकलापालङ्कृतदेहोऽत्यन्तं दुर्लभः सुगुरुस्तदुक्तम्—

" तित्थयर गणहरो केवली य पत्तेयबुद्ध पुव्वधरो । पंचविहायारधरो, दुल्लंभो इत्थ आयरिओ ॥ १ ॥
मग्गंता वि हु धम्मं, संसारसमुद्दभीरुआ जीवा । पासंडिअमुहपडिआ, भमंति पुणरुत्तसंसारे ॥ २ ॥
धम्मायरिएण विणा, अलहंता सिद्धिसाहणोवायं । अरय व्व तुंबलग्गा, भमंति संसारचक्कम्मि ॥ ३ ॥
जह कायमज्झवडिअं, वेरूलिअं कोइ जाणओ लेइ । सारिच्छयाइनडिओ, अविजं कायं चिअ गहेइ ॥ ४ ॥
एवं धम्मायरिअं, अहमायरिआण मज्झ आवडिअं । गिण्हंति लहुयकम्मा, सम्मन्नाणेण जइ विरला ॥ ५ ॥ "

एवं तावद् गृहीतकृपाज्ञाकृपाणान् पुरस्कृत्य सुगुरुविस्तीर्णस्फरकान् पार्श्वस्थाः=कुयतयस्त एव चारित्रधनापहारित्वेन चौराः=मलिम्लुचाः पार्श्वस्थचौराः, तेषां विसरः=समूहः पार्श्वस्थचौरविसरो न मुष्णाति=न लुण्टति यतः ' वियारभीओ'त्ति, पार्श्वस्थपक्षे विचारः=सिद्धान्तोक्तहेतुयुक्तिदृष्टान्तसन्नद्धधर्म्मवादस्तस्माद्भीतः=त्रस्तो विचारभीत इत्यर्थः । लौकिकस्तोकजागरूकपक्षे च–ये केचिद् गृहीतखड्गाः सुष्ठु=अतिशयेन गुरुः=विशालो यः स्फरकस्तेन युक्तान् पार्श्वस्थोऽपि=प्रत्यासन्नवर्त्त्यपि चौरविसरः=तस्करनिकरो न मुष्णाति । कीदृशः सन् ? विदारणं विदारः=खड्गप्रहारैर्भेदनं तस्माद्भीत इत्यर्थः ॥ ९२ ॥ ' मग्गुम्मग्गा नज्जंति नेये 'त्यादि, मार्गो हि द्विधा–द्रव्यमार्गो भावमार्गश्च, तत्र द्रव्यमार्गो देशान्तरप्रापणरूपः, भावमार्गश्च ज्ञानादिरूपः । सोऽपि द्विधा–शुद्धोऽशुद्धश्च । तत्र शुद्धो यत्र विधिचैत्यपूजनम्–अविधिचैत्यवर्जनं, शुभगुरूणामाज्ञाया अखण्डनं, शुभगुरूणां पुरतः प्रत्यहमस्खलितममेलितं द्वानवतिस्थानकवि-

शुद्धचन्दनकदानं, साधुसम्भवे प्रतिदिनं साधुसमीपमागत्य देववन्दनक-वन्दनक-सामायिक-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-पौषधादिविशेषधर्मकृत्याराधनं, सुविहितगीतार्थसंविग्नसाध्वन्तिके उपदेशमाला-देववन्दन-वन्दनक-प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण-सूत्रार्थरूपचूर्ण्यादिशास्त्रश्रवणं, सुविहितसुसाधुवचनासेवनं, कदध्वप्रतिबद्धलोकमोचनं, कुसिद्धान्तश्रुतिपरिवर्जनं, गड्डरिकाप्रवाहत्यागः, शोभनस्थाननिवसनं, गुरुपारतन्त्र्यात् पठन-स्वपन-ध्यान-विहार-स्वाध्याय-तपःकर्म-भोजन-गमनागमनादौ प्रवर्त्तनम् ॥ तथा यत्र च हरिहरादीनां पूजा तद्गुणग्रहणं, धर्मबुद्ध्या तद्भवनेषु गमनं १, कार्यारम्भे विनायकादीनां नामग्रहणं २, विवाहे विनायकस्थापनं शशिरोहिणीगीतं च ३, पुत्रजन्मादौ षष्ठीपूजनं ४, विवाहादौ मातॄणां स्थापनं ५, शुक्लद्वितीयायां चन्द्रं प्रति दशिकादानं ६, चण्डिकादीनामुपयाचितकरणं ७, तोत्तलाग्रहादिपूजनं ८, आदित्यचन्द्रग्रहणे विशेषतः स्नानं दानं प्रतिमादेरपि पूजनं ९, होलिकायाः प्रदक्षिणादानं १०, पितॄणां पिण्डप्रदानं ११, शनैश्चरे विशेषतस्तिलतैलादिदानं १२, शुक्लसप्तम्यां वैद्यनाथादेः पूजनमुपवासादिकरणं १३, पुत्रादिजन्मनि मातृशरावाणां रोपणं १४, आदित्यचन्द्रवारयोरेकाशनादितपश्चरणं १५, मिथ्यादृष्टिगोत्रदेवताभ्यर्चनं १६, रेवन्तपथि-देवतयोः पूजनं १७, क्षेत्रेऽस्या[1]उटि करणं १८, बुधाष्टम्यां पूजा १९, अग्निकारिकाकारणं २०, स्वर्णरूप्यरञ्जितवस्त्रचूटकपरिधानदिने सोविणि-रूपिणि-रङ्गिणि-विशेषपूजालाहणादिदानं २१, गोपुच्छादौ हस्तोत्सेधः २२, पितॄणां सपत्नीनां च मूर्त्तिविधापनं २३, उत्तरायणकरणं २४, भूतशरावदानं २५, परतीर्थे यात्रोपयाचितकादिकरणं २६, प्रपादानं २७, जलाञ्जलौ तिलदर्भदानं २८, मृतकार्थं जलघट-

१ ' खेत्ते सीयाइअच्चणं ' इति विधिमार्गप्रपा पृ. ३

दानं २९, सार्द्धमासिक–षाण्मासिक–सांवत्सरिक–करणं ३०, मिथ्यादृष्टिगृहेषु लाभनकदानं ३१, कुमारिकाभक्तप्रदानं ३२, कन्याफलग्रहणं ३३, तिथिषु–अकर्त्तनं दध्यविलोडनं च ३४, अमावास्यायां जामातृकप्रभृतीनां भोजनकारणं ३५, धर्म्मार्थं वापीसरःकूपादिखाननं ३६, क्षेत्रादौ गोचरदानं ३७, विवाहे जन्यकागमने सहिंडनकं ३८, मृतकार्थे पण्डवीवाहनं ३९, स्वभोजनात्पितृणां निमित्तं हतंकारप्रदानं ४०, काकबिडालादीनां पिण्डादिप्रदानं ४१, पिप्पलनिम्बादिवृक्षारोपणं ४२, तालाचरब्राह्मणादीनां कथाश्रवणं ४३, गोधनपूजनं ४४, इन्द्रजालदर्शनं ४५, पदातियुद्धदर्शनं ४६, ब्राह्मणतापसादीनां नमनं भक्तिदानं च ४७, ब्राह्मणादिगृहे गमनं भोजनं च ४८, मूलाश्लेषादिजाते बालके ब्राह्मणोक्तक्रियाकरणं ४९, शीतकाले अग्निकाष्ठकदानं ५०, धर्म्मार्थं चैत्रे चर्चरीक्रीडनं ५१, वैशाखे शुक्लपक्षेऽक्षयतृतीयाकरणं ५२, वासुदेवस्य स्वपने उत्थाने चैकादश्यां तथा फाल्गुनशुक्लपक्षामलक्येकादश्यां तथा ज्येष्ठशुक्लपक्षे निष्पानीयपाण्डवैकादश्यां सर्वमासेषु चैकादश्यामुपवासादिकरणं ५३, चैत्राश्विनमासयोरष्टमीमहानवम्योर्भट्टारिकापूजनं ५४, माघमासे घृतकम्बलदानं ५५, प्रतिमादिपुरतोऽपि स्त्यानघृतभृतस्थालप्रदानं ५६, माघशुक्लतृतीयायां गौरीभक्तकरणं ५७, माघमासे रात्रौ स्नानं ५८, फाल्गुनशुक्लपक्षे नागपञ्चम्यां नागपूजनं ५९, श्रावणशुक्लपक्षे षष्ठीकरणं ६०, भाद्रपदेऽर्कषष्ठीकरणं ६१, भाद्रपदकृष्णपक्षे (चंडी) अष्टमीपूजनं ६२, भाद्रपदशुक्लदूर्वाष्टम्यां विरुहकादिकरणं ६३, भाद्रपदकृष्णशुक्लपक्षयोः क्रमेण वत्सद्वादश्योवद्वादश्योः करणं ६४, भाद्रपदकृष्णकज्जलतृतीया–भाद्रपदशुक्लहरितालिकातृतीययोः पूजादिकरणं ६५, भाद्रपदकृष्ण(शुक्ल)चतुर्दश्यां पवित्रककरणमनन्तव्रतं ६६, माघशुक्लषष्ठ्यामादित्यरथपूजनं ६७, फाल्गुनकृष्णचतुर्दश्यां शिवरात्रिजागरणं ६८, आश्विन-

शुक्लपक्षे नवरात्रके नागपूजोपवासादिविधानं ६९, आश्विनशुक्लपक्षे गोमयतृतीयाकरणं ७०, ज्येष्ठशुक्लत्रयोदश्यां शक्तुकादिप्रदानं ७१, जैनेषु अप्यनायतनेषु गमनं ७२, शिथिलाचारसाधूनामाज्ञाबाह्यानां निष्कारणं वसतिदानं तद्व्याख्यानश्रवणं नमनं तत्समीपगमनं च ७३ इत्यादिमिथ्यात्वस्थानानि दूरतः परिवर्ज्यन्ते ।

यत्र च चैत्ये नोत्सूत्रभाषकजनक्रमः क्वापि चक्षुषाऽपीक्ष्यते । नापि रजन्यां स्नात्रं, प्रतिष्ठा, साधुसाध्वीप्रवेशो, विलासिनीनाट्यं च । न च जातिज्ञातिकदाग्रहः, यो जिनवचनबहुमानी अनिन्दितकर्म्मकारी धार्मिकलोकसुखावहः शुद्धधर्म्मदृढचित्तः स सर्वोऽपि कृत्याधिकारी । त्रिचतुरसुश्रावकदृष्टिदृष्टश्च द्रव्यव्ययः । नापि रात्रौ नन्दिविधापनपूर्वकं कस्यापि प्रव्रज्याग्रहणम् । अस्तमिते दिनकरे जिनाग्रतो न बलिर्ध्रियते । नापि सुप्ते जने तूर्यरवः । नापि रजन्यां रथभ्रमणं कदाचित्कार्यते । नापि जलक्रीडा देवतान्दोलनमाघमालाः क्रियन्ते । न श्रावकप्रतिष्ठाप्रमाणम् । न वा युक्तं जिनगुर्वोरपि गेयगानम् । नापि चतुरशीतिराशातना दृश्यन्ते । नापि कीर्त्तिनिमित्तं स्वकीयद्रव्यवितरणम् । बह्वाशातनाकारि(री)भिर्महेलाभिः कलिहास्यचर्च्चरिप्रियैर्जनैः सह निवार्यते धमीलकः (?) श्रावकशिरसि नावलोक्यते वेष्टनकम् । स्नपनकारजनवर्जं नास्ति विभूषणम् । न गृहचिन्तनम् । मलिनवस्त्राङ्गैर्न जिनपूजनम् । शुचिभूताया अपि श्राविकाया न बहु मन्यते मूलजिनप्रतिमायाः पूजनम् । एकजिनबिम्बाग्रतोऽवतारितारात्रिकस्य न द्वितीयजिनाग्रतोऽवतारणम् । पुष्पाण्येव निर्म्माल्यं न त्वक्षतफलमणिमण्डनभूषणनिर्म्मलचेलानि । न यतीनां ममत्वं न चान्तर्वासः । नास्त्येव गुरुदर्शितायाः स्त्रीपुरुषबिम्बवामदक्षिणदिक्संस्थितचैत्यवन्दनकरणादिरूपाया व्यवस्थाया लोपनम् । यत्र चैकोक्तमपि निश्चयतः सगुणं क्रियत एव, समययुक्त्या विघटमानं बहुलोकोक्तमपि न

बहु मन्यते । यत्र च नात्मा वर्ण्यते, परश्च न दूष्यते । यत्र च यः सगुणः स वर्ण्यते विगुणश्चापेक्ष्यते । यत्र च वस्तुविचारणे न कुतोऽपि भयमुत्पद्यते । यत्र च जिनवचनोत्तीर्णं प्राणापहारेऽपि न प्रजल्पते तथा यत्र–(उपदेशरसायनरासे गा० २७=२९)–

“ सावयविहिधम्मह अहिगारिअ, जिञ्ज न हुंति दीहसंसारिअ ।
अविहि करिंति न सुहगुरुवारिअ, जिणसंबंधिय–धरहि न दारिअ ॥ २७ ॥
जइ किर फुल्लइ लब्भइ मोल्लिण, तो वाडिय न करहि सहु कूविण ।
थावर घर–हट्टइ न करावहि, जिणधणु संगहुकरि न वधारहिं ॥ २८ ॥
जइ किर कु वि मरंतु घर–हट्टइ, देइ त लिज्जहिं लहणावट्टइ ।
अह कु वि भत्तिहिं देइ त लिज्जहि, तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहि ॥ २९ ॥ ”

इत्यादिको विधिः । तथा पण्याङ्गनानर्त्तनविषये च—(उपदेशरसायनरासे गा०... ३२=३४)—

“ ...जा लहुडी सा नच्चाविज्जइ, वड्डी सुगुरुवयणि आणिज्जइ ॥ ३२ ॥
जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी, सा लग्गइ सावयह वियारी ।
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टिहि, जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं ॥ ३३ ॥
बहुअ लोय रायंध स पिच्छहिं, जिणमुह–पंकउ विरला वंछहिं ।
जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ, मरइ सु तिक्खकडक्खिहिं घायउ ॥ ३४ ॥ ”

इत्यादिकोऽपि यो विधिः । तथा रजस्वलाविषयेऽपि–(उपदेशरसायनरासे गा० ६९=७१)—

" ......तिन्नि चयारि छुत्तिदिण रक्खइ, स ज्जि सरावी लग्गइ लिक्खइ ॥ ६९ ॥
हुंति य छुत्ति जल(पव)ट्टइ सेच्छइ, सा घर धम्मह आवइ निच्छइ ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डइं देवय, सासणसुर मिल्लहिं विहिसेवय ॥ ७० ॥
पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली, चित्ति भरंति करेइ अभुल्ली ।
मणह मज्झि नवकारु वि ज्झायइ, तासु सुद्धु सम्मत्तु वि रायइ ॥ ७१ ॥ "

इत्यादिकश्चैतत्प्रकरणकाररचितचर्चरी[2]रसायनादिप्रकरणोक्तो[1] यो विधिः स सर्वोऽपि वर्त्तते । तथा श्रावक–श्राविका-विधिविषयेऽपि—(षट्स्थानके गा० १६=१८)—

" संतलयं परिहाणं, ज्झलंब–चोला(डा) इयं च मज्झिमयं । सुसिलिट्ठमुत्तरीयं, धम्मं लच्छि जसं कुणइ ॥ १६ ॥
परिहाणमणुब्भड, चलण–कोडिमज्झायमोसरंतं तु । परिहाणमकमंतो, प कंचुओ होइ सुसिलिट्ठो ॥ १७ ॥
पच्छायंतं अंगं, सुसिलिट्ठं उत्तरिज्जमणुरूवं । विकियं तव्विवरीयं, वज्जइ जिणभवणमाईसु ॥ १८ ॥

इत्यादि वचनविषये च सर्वोऽपि विधिः श्रीजिनेश्वरसूरिकृतषट्स्थानकोक्तः शुद्धो मार्गः, विपरीतस्त्वशुद्धः । तथा चानेन प्रकरणकारेणोक्तं यथा–तत्राशुद्धः—

1 " जात–मृत–सूतकदिने-रजस्वला–वमन–मूत्र–विष्ठासु । मद्ये चण्डालादौ, स्युः सप्त लुप्तयो लोके ॥ १ ॥ " 2 उपदेशरसायनरासः ।

॥ १ ॥

" गड्डरि–पभावपडिएहिं–कुगुरुनडिएहिं पारद्धो
बहुजणगणसेविओ सुकरो ॥ २ ॥

विहिविसयपारतंतेहिं–वज्जिओ जोइओऽविवेएणं । निव्वुइपहपडिकूलो, बहुजणगणसेविओ सुकरो ॥ २ ॥

पुवावरवयणविहडणओ ॥ ३ ॥ "

अवियारिअरमणिज्जो, गद्दहलिंडु व बाहिरे मट्ठो । अंतो तुसभुसभरिओ, पुवावरवयणविहडणओ

ततश्चात्र मार्गशब्देन शुद्धमार्गः, उन्मार्गशब्देनाशुद्धमार्गो ज्ञेयस्ततो मार्गश्चोन्मार्गश्चेति द्वन्द्वस्तौ मोहप्राचुर्यान्नैव ज्ञायेते=नैवं बुध्येते । ननु किं सर्वथैव मार्गोन्मार्गयोरविज्ञानं न, इत्याह–'विरलो जणोत्थि मग्गण्णू' त्ति विरलः=स्वल्पो यस्त-थाविधमोहान्धकारप्रसराऽदूषितनैर्मल्याऽरूपितसातिरेकविवेकचूर्णाञ्जितदृष्टिर्जनः सोऽस्ति=विद्यते, कीदृशः ? मार्गज्ञः=पूर्वोदि-तलक्षणशुद्धमार्गवित् । मार्गज्ञता चात्र श्रद्धानक्रिययोरप्युपलक्षणं, तेन यो मार्गं जानाति श्रद्धत्ते सम्यगनुतिष्ठति च स स्तोक इत्यर्थः । यद्येवं तर्हि तस्य स्तोकस्यापि मार्गविदो जनस्य सुविहितसाध्वादिलक्षणस्य वचसि भूयांसो जना लगिष्यन्ति ? नेत्याह–' थोवा तदुत्तमग्गे लग्गंति ' तेन=विरला[ल]मार्गज्ञेन उक्तः=अभिहितो योऽसौ मार्गस्तदुक्तमार्गस्तस्मिन् तदुक्त-मार्गे स्तोका लगंति=सजन्ति । भूयस्तरास्तत्र किमिति न लगन्ति ? इत्याह–न विश्वसन्ति=न विश्रम्भं यान्ति घनाः भूयिष्ठा गुरुकर्मतया; अद्यापि गड्डरिकाप्रवाहनिमग्नास्ते–' अहो ! ठका एते मस्तके वासक्षेपेण सकलमपि लोकं ठकयन्ति तस्मान्नै-तत्सामीप्येनापि संचरणीयमिति, प्रलपन्तस्तेभ्यो दूरतरं पलायन्त इत्यर्थः । अपरपक्षे च घोरान्धकारावृतत्वेन नैव ज्ञायते मार्ग उन्मार्गो वा । अत्र पक्षे ' एव ' शब्दो बहुजनापेक्षया अवधारणार्थः । विरलश्च कश्चिद्गोपालौष्ट्रिकादिर्जनोऽस्ति मार्गज्ञः,

' १ एवौपम्ये परिभवे, ईषदर्थेऽवधारणे ' इति हैमानेकार्थ० अव्ययाधिकारे १८१६ । २ अरूषिता=रजःकरणरहिता ।

स्तोकास्तत्प्रत्ययकारिणस्तदुक्तमार्गे गोपालाद्युपदिष्टे वर्त्मनि लगन्ति, घनाः पुनर्न विश्वसन्ति ' विप्रतारका एते निश्चितमेतन्मार्गे लग्नानामस्माकं सर्वस्वस्यापहारो भविष्यती'ति विकल्पादिति ॥ ९३ ॥ तथा 'अन्ने अन्नत्थीहिं' इत्यादि, अन्ये=केचित् शिवं=मोक्षमर्थयन्ते=मृगयन्त इत्येवंशीलाः शिवार्थिनः, सार्थाः=" सार्थो वृन्दे वणिग्गणे " इति हैमानेकार्थ० २३४) वचनात् वृन्दानि भव्यानामिति गम्यते, चालिता अपि=प्रेरिता अपि, अत्रापि=" अपि संभावना-शङ्का-गर्हणासु समुच्चये। प्रश्ने युक्तपदार्थेषु, कामचारक्रियासु च ॥" इति (हैमानेकार्थ० अव्ययाधिकारे १८०१) वचनाद् गर्हणायां-धिकारार्हास्ते पापा ये मार्गमजानाना अपि भव्यसार्थान् शिवपुरं प्रति प्रेरयन्ति यदुत-आगच्छत यूयमस्मत्पृष्ठे लगध्वं, न कर्त्तव्यो दानं ददद्भिर्जलधरैरिव सुष्माभिस्तुच्छचित्तजनकुविकल्पनाकलितः पात्रापात्रविभागः, पारमेश्वरदर्शनधारिषु स्वेच्छाचारिष्वपि तन्निन्द्यताश्रद्धा न निवेशनीया मनस्यवन्द्यता तीर्थकृत्पूजनबलिविधानप्रतिष्ठापनादिष्वपि रात्रिन्दिवविभागेन कीदृशी विध्यविधिपरता ?, परमेश्वरस्य परमेश्वरदर्शनग्राहिणां च सर्वथा नमस्कार एव केवलं श्रेयान्, ततः किं बहूक्तेन-अस्मत्पृष्ठलग्नानां युष्माकं न खलु दूरे निर्वृतिनितम्बिनीवक्षःस्थलाभोगे विलुलन्मुक्ताकलापसंपर्केण सांसारिकसकलक्लेशसन्तापनिर्वापण"-मिति, परं पतिताः=परिभ्रष्टाः, क ? भवारण्ये=संसाराटव्याम्। अथ कथञ्चित्तेऽपि शिवपथप्रकटनप्रवीणा भविष्यन्ति ? इत्याह-सम्यग्=अवितथं शिवपथं=मोक्षमार्गम्, अप्रेक्षमाणैरपि=अजानानैरपि तैः। ननु यदि स्वयं शिवपुरपथं न विदन्ति तर्हि किमिति तैस्ते भव्यसार्थाः शिवपुरपथं प्रति प्रवर्त्तिताः ? तत्राह-' अन्नार्थिभिः=अन्नं=धान्यम्, उपलक्षणत्वाद्वस्त्रपात्रपुस्तककम्बलादि अर्थयन्त इत्येवंशीला अन्नार्थिनस्तैरन्नार्थिभिः। दुरात्मानस्त औदरिका एवं चिन्तयन्ति-यद्येते मुग्धा विप्रतार्या

आत्मसात्कृता भवन्ति तदाऽस्माकं सुखेन भक्तपानकवस्त्रादिना निर्वाहः स्यात् अविच्छिन्नप्रवाह इति भावः। द्वितीयपक्षे चान्ये केचन शिवार्थिनः=" शिवं तु मोक्षे क्षेमे सुखे जले " इति (हैमानेकार्थ० ५४२) वचनात् क्षेमसुखजलार्थिनः सार्थाः=वणिग्जनाः कैश्चिन्निर्दयैरन्नार्थिभिः=स्वोदरभरणमात्राभिलाषुकैः सम्यक्=निश्चितं शिवपथं=क्षेमकारि-निरुपद्रवमार्गम् अपेक्षमाणैः=अपश्यद्भिः=अन्धप्रायैः, चालिता अपि=प्रवर्त्तिता अपि पतिताः=परिभ्रान्ताः, क्व ? भवारण्ये, " भवः सत्ता-ऽऽप्ति-जन्मसु। रुद्रे श्रेयसि संसारे " इति (हैमानेकार्थ० ५३८) पाठात् भवः=श्रेयस्ततोऽकारप्रश्लेषाद् अभवम्=अश्रेयस्करं चौरचरटाद्युपद्रवबहुलं, निर्जलं तच्च तदरण्यं च=अटवी चाभवारण्यं तस्मिन्नभवारण्ये इत्यर्थः ॥ ९४॥ 'परमत्थसत्थरहिएसु' इत्यादि, भव्यसार्थेषु=भव्यानां=मुक्तिगामिनां सार्थाः-समूहास्तेषु भव्यसार्थेषु। कीदृशेषु सत्सु ? परमार्थो=जिनवचनरहस्यं तदेव शस्त्रं=विपक्षपक्षक्षयकारित्वात्प्रहरणं तेन रहितेषु=विप्रमुक्तेषु। तादृशानामप्यप्रमादिनां कथञ्चिन्मोषणं न संभाव्येत् तत्र आह-सुप्तेषु=शयितेषु सत्सु, कया ? मोहनिद्रया=हेयोपादेयापरिज्ञानप्रमीलया, ततश्च मुष्यमाणेषु=अपह्रियमाणगुणानुराग. गुरुपर्युपास्तिसत्पात्रदानादिसारोपस्कारेषु, कैः ? इत्याह-प्रौढपार्श्वस्थचौरैः=वाचालत्व-धृष्टत्व-लकुटच्छुरिकादिग्राहित्वैः प्रौढाः=प्रचण्डास्ते च ते पार्श्वस्थाश्च त एव चौराः=मलिम्लुचास्तैः प्रौढपार्श्वस्थचौरैः। पक्षान्तरे च भव्यसार्थेषु=तथाविधविशिष्टसंघातेषु शस्त्ररहितेषु=खड्गशक्तिकुन्ताद्यायुधवर्जितेषु निद्रया घूर्णमानेषु ततो निःशङ्कं प्रौढपार्श्वस्थचौरैः=प्रगल्भप्रत्यासन्नतस्करैर्मुष्यमाणेषु=लूष्यमाणेषु सत्सु इति गाथाद्वादशकार्थः ॥ ८५ तः ९६ यावत् ॥

अथ तामेवाज्ञामाह—

सुहसीलतेणगहिए, भवपल्लितेण जगडिअमणाहे। जो कुणइ कूविअत्तं, सो वन्नं कुणइ संघस्स ॥ ९७ ॥

व्याख्या—सः=कश्चिदनिर्दिष्टनामा, वर्णं="वर्णः स्वर्णे मखे स्तुतौ। दूते द्विजादौ शुक्लादौ, कुथायामक्षरे गुणे ॥ भेदे गीत-क्रमे चित्रे, यशस्तालविशेषयोः। अङ्गरागे च" इति (हैमानेकार्थ० १६६) पाठाद् यशः सङ्घस्य=प्रवचनस्य प्रभावना-मित्यर्थः, करोति=विधत्ते इति योगः। यः, किम्? इत्याह—कुरुते, किम्? 'कूवियत्तं' ति पूत्कारकल्पं तदुत्पथत्वजल्पनं, क सति? 'जने' इत्यध्याहार्यं ततो जने सति, कीदृशे? 'सुहसीलतेणगहिए' त्ति, सुखमेव शीलयन्ति=अभ्यस्यन्तीत्येवंशीलाः सुखशीलाः=सातलम्पटाः पार्श्वस्थादयः, शाक्यासास्त एव स्तेनाः=तस्करास्तैर्गृहीते=वशीकृते। वशीकृत्य किं क्रियमाणे? 'नीयमाने' इति पदं गम्यते ततो नीयमाने=उत्पथेन प्राप्यमाणे, काम्? 'भवपल्लितेणं' ति, अत्र 'अन्त'-शब्दः "अन्तः स्वरूपे निकटे, प्रान्ते निश्चयनाशयोः। अवयवेऽपि" इति (हैमानेकार्थ० १७१) वचनात्स्वरूपार्थो नैकट्यार्थः प्रान्तार्थो वा, ततो भवः=संसारः स एव पल्ली, भवपल्ल्येव भवपल्लयन्तं प्राकृतत्वात्तृतीयान्ततानिर्देशः, यदि वा—भवपल्लीप्रान्तेन वा, कीदृशे जने? 'जगडिअमणाहे' "जा जस्स ठिई जा जस्स संतई पुव्वपुरिसकय मेरा। सो तं अइक्कमंतो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ १ ॥" इत्यादिसद्गच्छविषयोपपत्त्यभिधानपूर्वकं स्वगच्छस्थितिशृङ्खलाबन्धनादिना विडम्बिते भवोद्भवदुःखलक्षपरित्राणं प्रति, अनाथे वनीराजक इव नीयमाने। 'तेणजगडिअमणाहे' स्तेनाः=चौराः प्रस्तुतत्वात्पार्श्वस्थादयस्तैर्विडम्बितानाथे इति वा। ननु 'अहो! जिनगृहनिवासः, गृहस्थचैत्यभवनधनस्वीकारः, गद्दिकाद्यासनोपवेशनं, यतिनां

१ 'मखे' अत्र 'मते' इत्यपि पाठः। २ 'दूते' अत्र 'रूपे' इत्यपि पाठः।

देवपूजनं, नित्यवासः, श्राद्धानामञ्चलेन वन्दनकदापनं, श्राद्धेन प्रतिष्ठाविधापनं, जिनभवने रात्रिस्त्रीप्रवेश-प्रतिष्ठायलिनन्दि-प्रव्रज्यादानादिकं च समस्तमप्युन्मार्ग एष तदनेन यूयं संवरध्वे किं दिग्व्यामोहं प्राप्ताः ? किं वा ठगिताः ? किमुतान्धबधिराः ? भूतादिग्रहाधिष्ठिता वा ?, अद्यापि निवर्त्तध्वमेतस्मात्कुपथात्, इत्यादि स्वभुजादण्डमूर्द्धीकृत्य पार्श्वस्थाद्याचरितस्योत्पथत्वजल्पनलक्षणपूत्कारस्तेषां महत्तरसंक्लेशहेतुत्वेन कथं क्रियमाणो युज्यते ? इति चेत्तदसत्, तस्य प्रवचनप्रभावनादिनिमित्ततया, अचिन्त्यपुण्यसम्भारकारणस्यावश्यंकर्त्तव्यत्वात्, अत्र चेयमेवार्हत्याज्ञा । इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

अन्यच्च किं चेतस्यवधारितम् ? इति गाथायुगलेनाह—

तित्थयरा रायाणो, आयरिआ-रक्खिअ व जेहिं कया। पासत्थपमुहचोरो,-वरुद्धघणभव्वसत्थाणं ॥९८॥

सिद्धिपुरपत्थियाणं, रक्खट्ठाऽऽयरिअवयणओ सेसा। अहिसेय-वायणायरिअ साहुणो रक्खगा तेसिं ।९९।

व्याख्या—तीर्थंकराः=चतुर्वर्णश्रीसङ्घभट्टारकाः सकलत्रैलोक्यनाथाः, त एव राजानः, तैश्च स्वकीयजैनपुरवास्तव्यानां पार्श्वस्थप्रमुखाः=पार्श्वस्थावषन्नप्रभृतयश्च ते ज्ञानादिरत्नत्रयसारप्रवचनभाण्डागारलुण्टाकत्वेन चौरा तैरुपरुद्धाः=अवष्टब्धाः पार्श्वस्थप्रमुखचौरोपरुद्धाः, ते च ते घनाश्च=भूयांसश्च पार्श्वस्थप्रमुखचौरोपरुद्धघनाः, ते च ते भव्यसार्थाश्च, तेषां पार्श्वस्थप्रमुखचौरोपरुद्धघनभव्यसार्थानां रक्षणाय=अवनाय आचार्याः कृताः। कीदृशाः ? आरक्षका इव=दण्डपाशिका इव कोट्टपाला इत्यर्थः। पार्श्वस्थप्रमुखाणां स्वरूपं शास्त्रेभ्योऽवसातव्यम्। कीदृशानां भव्यसार्थानाम् ? शिवपुरप्रस्थितानां=निर्वृतिनगरीं

प्रति चलितानाम् । एवं च तीर्थकरराजभिः सिद्धिपुरप्रस्थितभव्यसार्थानां रक्षणायाचार्या आरक्षकाः कृताः, तैश्चाचार्यैः शेषाः स्वभटस्थानीया अभिषेका उपाध्याया वाचनाचार्याः सिद्धान्तवाचनादातारः साधवश्च सन्मुनयस्तेषां भव्यसार्थानां रक्षकाश्चक्रिरे=विदधिरे इति गाथाद्वयार्थः ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

एवं व्यवस्थिते ममाप्येतन्मध्यवर्त्तित्वादेतादृशासमञ्जसदर्शनमक्षम्यमाणस्याधुनैतत्कर्त्तुं युज्यत इति गाथापूर्वार्द्धेनाह—

ता तित्थयराणाए, मए वि मे हुंति रक्खणिज्जाओ ।

व्याख्या—यत एवं व्यवस्थितं 'ता'=तस्माद्धेतोस्तीर्थकराज्ञया=अर्हन्निर्देशेन मयाऽपि इमे=एते भव्यसार्था रक्षणीयाः=पालनीया भवन्तीति गाथापूर्वार्द्धार्थः ॥

एतद्विचार्य येन सावष्टम्भं यद्व्यचक्रे तत्तावत्सार्द्धगाथापञ्चकेनाह—

इय मुणिअ वीरविंत्तिं, पडिवज्जिअ सुगुरुसन्नाहं ॥ १०० ॥

करिअ खमा-फलयं धरिउमक्खयं कयदुरुत्तसररक्खं । तिहुअणसिद्धं तं जं, सिद्धंतमसिं समुक्खविअ ।१०१

निव्वाणठाणमणहं, सगुणं सद्धम्ममविसमं विहिणा । परलोयसाहगं मुक्खकारगं धरिअ विप्फुरिअं ॥१०२॥

जेण तओ पासत्थाइतेणसेणा वि हक्किआ सम्मं । सत्थेहि महत्थेहिं, वियारिऊणं च परिचत्ता ॥१०३॥

आसन्नसिद्धिआ भव्वसत्थिआ सिवपहम्मि संठविआ। निव्वुइमुविंति जह ते, पडंति नो भीमभवरन्ने॥१०४॥
मुद्धाऽणाययणगया, चुक्का मग्गाउ जायसंदेहा। बहुजणपुट्ठिविलग्गा, दुहिणो हूआ समाहूआ ॥१०५॥

व्याख्या—येन पार्श्वस्थादिस्तेनसेनापि–पार्श्वस्थादयश्च ते स्तेनाश्च=चौराश्च तेषां सेनाऽपि सैन्यमपि, न केवलं स्तेनानां त्रयं चतुष्टयं पञ्चकं वेत्यपिशब्दार्थः, 'हक्किया सम्मं' ति सावष्टम्भं जल्पिता यथा–'भो भो पापाः! किमेवमैहलौकिकभक्तपानकवस्त्रपात्रमात्रादिलिप्सया मुग्धजनानेतान् विप्रतार्य कदध्वे पातयध्वे? तस्मान्मुञ्चतामून्, नो चेत् पश्यत यत्करिष्यामि' इति। किं कृत्वा? तत्राह इति=पूर्वोक्तं मुणित्वा=स्वचेतसि पर्यालोच्य। ततोऽपि किं कृत्वा? तत्राप्याह–वीरवृत्तिं प्रतिपद्य, वीराः=प्रचण्डपराक्रमाः साहसैकरसिकास्तेषां वृत्तिः=व्यापारश्चेष्टेत्यर्थः, तामङ्गीकृत्य। 'वीरो हि कांश्चनाशरणान् शिष्टजनान् कैश्चिन्निष्कृपैः स्तेनशत्रुभिः पराभूतानभिवीक्ष्य करुणार्द्रचेतास्तैः सह युद्धायोपक्रममाणस्तावन्निविडं सन्नाहं विधत्ते, परप्रेरितशरधोरिणीविक्षेपणक्षमं फलकं च हस्ते धारयति, यमजिह्वाकरालं करवालं च दक्षिणकरे करोति, समौर्वीकाण्डं चण्डगाण्डीवं च कलयति, दिक्चक्रप्रतिफलितशब्दां हक्कां ददाति, शस्त्रैः प्रहरति परान् विक्षिपति इत्यादिचेष्टां करोति। तदनेन वीरवृत्तिं प्रतिपद्य कथं सन्नद्धं? किं फलकीकृतं? किं मण्डलाग्रीकृतं? किं च कोदण्डीकृतम्? इति तस्य वीरवृत्तिमेवाह–सुगुरुसन्नाहं कृत्वा, सुगुरुरेव=शोभनधर्म्माचार्य एव सन्नाहः=कङ्कटं तं विधाय, क्षमैव=क्रोधजय एव फलकं, तं धृत्वा, कीदृशम्? अक्षतं=परिपूर्णम्। तथा कृता=विहिता दुरुक्तान्येव='रे बकचेष्टित! कपटचेष्टिता सुविहितनामधारक! पश्चे-

न्द्रियमारक! प्रच्छन्नपापकूप! कुरूप! किमित्यसद्दूषणानुद्घोषयसि लोकमध्ये? किं तूष्णीभूय न तिष्ठसि? तव तत्करिष्यामो यन्न हदमानस्यापि विस्मरति' इत्यादिदुर्वचनान्येव शराः=बाणास्तेभ्यो रक्षा=रक्षणं येन तत्तादृशम्, इत्येतदपि फलकविशेषणम्। ततः समुत्क्षिप्य=उल्लास्य, किम्? 'सिद्धंतमसिं'ति मकारोऽलाक्षणिकस्ततः सिद्धान्त एव=श्रुतमेवासिः=खड्गस्तं सिद्धान्तासिं, 'त'मिति लोकोत्तरं यः, कीदृशः? त्रिभुवने=त्रिजगति सिद्धः=प्रसिद्धः। 'जं त'मिति नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वादित्यर्थः॥ १०१ ॥ 'निव्वाणठाण'-मित्यादि। सद्धर्म्मं, सच्छब्दः सत्यार्थः "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इति (अमर० नानार्थ० ८३) वचनात्सत्यप्रधानः शोभनधर्म्मः=पुण्यं सद्धर्म्मश्चारित्रधर्म्ममित्यर्थः। ततः परम्परितरूपकेण सद्धर्म्म एव सद्धर्म्मः=शोभनधर्मस्तं सद्धर्म्मं विधिना सैद्धान्तिकेन धृत्वा=गृहीत्वा। सद्धर्म्मस्यैव विशेषणान्याह–'निव्वाणठाण'-मिति, निर्वाणं=मोक्षस्तल्लक्षणं स्थानं=पदं चारित्रधर्म्मस्य जीवन्मुक्तत्वप्रदत्वात्तदुक्तम्–

"निर्जित्तमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्। विनिवृत्तपराशाना,-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥ १ ॥"

'अणहं'ति, न विद्यते अघं=पापं यस्मात्तमनघम्। 'सगुणं'ति सह गुणैः=नियमशमदमौचित्यादिभिर्वर्त्तते यस्तं सगुणम्। अविषमं=सरलम् अक्षेपेणैव[1]। मोक्षप्रापकत्वात्। परलोकस्य=भवान्तरस्य साधकं=निष्पादकं, चारित्रेण हि परलोकः साध्यते न त्वैहलौकिकं राज्यादिकं किञ्चिदपीक्ष्यते। मोक्षस्य=परमपदस्य कारकं विधायकम्? विस्फुरितम्=ऊर्जितं समुज्ज्वलमित्यर्थः। धनुःपक्षे च–निश्रितं बाणस्य स्थानं स्थितिप्रदत्वात्, अनघं=सलक्षणं न तु कीटकादिजग्धं, सगुणं–

[1] विना प्रेरणयैवेत्यर्थः।

सप्रत्ययश्चम्, अविषमम्=अनृजु, परलोकस्य=शत्रुवर्ग्गस्य साधकं=वश्यताकरं, मोक्षस्य=आत्मनो मुक्तेः कारकं विस्फुरितम्=उल्लसितमित्यर्थः । ' सत्थेहिं महत्थेहिं वियारिऊणं च परिचत्त 'त्ति, शास्त्रैः=आगमैः महार्थैः=गम्भीराभिधेयैर्विचार्य ' चः ' समुच्चये परित्यक्ता=अवगणिता । वीरवृत्तिपक्षे स्तेनसेना हक्किया=आक्षिप्ता, शास्त्रैर्महार्थैर्गुरुभिर्विदार्य परित्यक्तेति पूर्ववत् ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ तथा 'आसन्नसिद्धिया' इत्यादि । आसन्ना=एकद्वित्रिभवानन्तरभावित्वेन निकटवर्त्तिनी सिद्धिः=मुक्तिर्येषां ते आसन्नसिद्धिकाः=भवविरक्ताः सङ्घपूजाद्यासक्तित्वादिलक्षणवन्तः, तदुक्तम्—

" संसारचारए चारए व्व आवीलिअस्स बंधेहिं । उव्विग्गो जस्स मणो, सो किर आसन्नसिद्धिपहो ॥ १ ॥

आसन्नसिद्धिआणं, लिंगमिणं जिणवरेहिं पन्नत्तं । संघम्मि चेव पूया, सामन्नेणं गुणनिहिम्मि ॥ २ ॥"

भव्यानां सार्थेन चरन्तीति भव्यसार्थिकास्ते शिवपथे=ज्ञानादिरूपे मोक्षमार्गे येन संस्थापिताः=प्रतिष्ठिताः प्रवर्त्तिता इत्यर्थः । कथं संस्थापिताः ? तत्राह–' निव्वुइमुविंति 'त्ति निर्वृतिं=निर्वाणं यथा=येन प्रकारेण चारित्रस्थिरीकरणादिरूपेण उपयान्ति=गच्छन्ति चकाराध्याहारात् नो=न च पतन्ति=न च भ्राम्यन्ति भीमभवारण्ये=भीषणसंसाराटव्यामिति । वीरोऽपि हि आसन्ना=समीपस्था सिद्धिः=गतिश्वरणचङ्क्रमणशक्तिर्येषां तान् आसन्नसिद्धिकान्, भव्याः=भव्याकृतयो वणिक्क्षत्रियब्राह्मणादिरूपा ये सार्थिकाः=सहगामुकास्तान् शिवपथे=कुशलकारिणि मार्गे संस्थापयति यथा ते निर्वृतिं=सुखमुपयान्ति नैव पुनरटव्यां पतन्तीत्यर्थः ॥ १०४ ॥ तथा ' मुद्धाणाययण० ' इत्यादि । येन समाहूताः=आकारयाञ्चक्रिरे, के ? इत्याह–मुग्धाः=अज्ञा ऋजवः । कीदृशाः सन्तः ? अनायतनगताः=अनायतनप्राप्ताः अनायतनस्वरूपं च अग्रत एव वक्ष्यामः ।

किमित्यनायतनगताः ? यतः ' चुक 'त्ति भ्रष्टाः, कस्मात् ? मार्गात्=सत्पथात् । एतस्मादपि कस्माद्भ्रंशः ? तत्राह–यतो जातसन्देहाः, जातः=समुत्पन्नः ' किमयं नित्यवास–वसतिनिरास–स्वगच्छपाशबन्धनप्रकाशस्वरूपश्चैत्यवासिनां मार्गः ? उतश्चित्पश्चामृतस्नात्र–यतिप्रतिष्ठा–सर्वबिम्बस्नात्रनिषेध––ब्रह्मशान्त्यादिवैयावृत्त्यकरपूजाप्रणामप्रतिषेध–गृहीतपूजोपकरणश्राद्धसाधुवन्दन–देवाग्रतःस्थापनाचार्यस्थापनैर्यापथप्रतिक्रमणस्वरूपः पौर्णमासिकानाम् ? आहो ! चन्दनकर्पूरक्षेपविरतिरूपः सार्द्धपौर्णमासिकानाम् ? किं वा सिवयाश्चलवन्दनकदापनरूपाः सैवयिकानाम् ?, अथवा मलमलिनगात्रदौर्गन्ध्यपात्रावश्रावणतन्दुलधावनादिग्राहिणामेकाकिविहारिणां गुरुकुलवासत्यागिनां तपस्विनाम् ? ' इत्यादिः सन्देहः=संशयो येषां ते जातसन्देहाः, अत एव च बहुजनपृष्ठलग्नाः–बहुजनस्य=चैत्यवासि–राकापक्षीय–सैवयिकादि–प्रचुरलोकस्य पृष्ठे लग्नाः= पश्चाद्भागे सक्ताः, मुग्धधार्म्मिकत्वान्मलक्लिन्नस्विन्नतत्पुताग्रायिण इत्यर्थः । एवं चैकैस्मिन्नाधाकर्म्मोपभोग–गुरुकुलवासत्याग–घृतकपिण्डग्रहणादिदूषणावेक्षणेनैकत्र मानससन्निवेशवैकल्यात् दुःखिनः=सन्तप्तगात्राः भूताः=सन्तः समाहूताः–यदुत– ' भो श्रद्धालवो जनाः ! यूयं किमित्येवमुद्विग्नचित्ताः परिभ्राम्यथ ? शृणुत मद्वचन 'मिति । वीरोऽपि दिङ्मुग्धान्=संजातदिङ्मोहान् जनान् अनायतनगतान्=अस्थानप्राप्तान् मार्गाद्भ्रष्टान्, ' किमयं प्राची–अवाची–प्रतीच्यौदीच्यो वा मार्गः ? ' इत्येवं जातसन्देहान् ' कदाचिदयमयं मार्गं दर्शयिष्यती 'त्य–परापरपृष्ठलग्नान् अत एव दुःखिनः=कष्टभागिनो भूतान् समाह्वयतीति गाथार्थः ॥ १०५ ॥

समाहूय येन तेषां किं व्यधायि ? इत्याह—

दंसिअमाययणं तेसिं जत्थ विहिणा समं हवइ मेलो। गुरुपारतंतओ समयसुत्तओ जस्स निप्फत्ती॥१०६॥

व्याख्या—दर्शितम्=अवलोकयाञ्चक्रे तेषाम्, किम्? आयतनं येनेति योगः। अथ किमिदमायतनं? किं चाऽनायतनम्? इत्युभयोरपि स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमं तावदनायतनस्वरूपमुच्यते,-तथाहि-अनायतनम्-अस्थानं गुणानामिति सामर्थ्याद्गम्यम्, अथवा ज्ञानाद्यायहानिजननादनायतनम्, यदुक्तमोघनिर्युक्त्यागमे—

"सावज्जमणाययणं, असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी। एगट्ठा हुंति पया, एए विवरीय आययणे ॥ १ ॥"

तथा—

"नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ वाघाओ। वज्जिज्जऽवज्जभीरू, अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ २ ॥"

अनायतनायतनविचारोऽनेनैव श्रीप्रकरणकारेण भगवता कुलके[1]ऽभ्यधायि, यथा—

"सम्मत्तमिह निरुत्तं, मूलं सुविसुद्धधम्मगुरुतरुणो। सिवसुहफलस्स तम्हा, तदत्थिणा तत्थ जइयव्वं ॥ १ ॥
तमणाययणच्चाएण होइ आययणसेवणेणं तु। तमणाययणं पुण दव्वभावभेएहिं भणियं तु ॥ २ ॥
दव्वे रुद्दहराई, वेसित्थि दुगुंछिए कुतित्थी य। भावम्मि अणाययणं, लोइअमिह भन्नए समए ॥ ३ ॥
लोउत्तरिअं पुण जिणहरं फुडं दव्वओ अणाययणं। जत्थुस्सुत्तपवित्ती, कीरइ अणुसोयगामीहिं ॥ ४ ॥

1 देववन्दनकुलके, आयतनाऽनायतनविचारकुलके च, इति।

मूलुत्तरगुणपडिसेविणो जहिं हुंति दव्वजइणोऽमी । तमणाययणं पुण भावओ य नाणाइ हाणिकरं ॥ ५ ॥
लोउत्तरं तु विहिचेइयं दव्वओ तमाययणं । जं नाणाइगुणाणं, तत्थगयाणं हवइ वुड्ढी ॥ ६ ॥
भावम्मि अ आययणं, पडिसोयपवित्तिकारिणो जइणो । जिणमयकारणरहिआ, कुणंति न कुसीलसंसग्गिं ॥ ७ ॥
दसवेयालिअ–आवस्स–ओघनिज्जुत्ति–पंचकप्पेसु । अन्नेसु वि नाणापयरणेसु आययणमुत्तमिणं ॥ ८ ॥
खणमवि न खमं काउं, अणाययणसेवणं सुविहिआणं । इच्चाइसुत्तवि[वु]त्ताणुसारओ वज्जणिज्जमिणं ॥ ९ ॥
दंसणनाणचरित्ताण जत्थ लाभो गयाण संभवइ । आययणं तं दुविहंपि सेवणिज्जं संउणेहिं[1] ॥ १० ॥
जत्थ जिणाणं पडिमा, तं सव्वं पूयणिज्जमिह विंति । विहिअविहिकयं न मुणिंति दंसणं तेसि नत्थि धुवं ॥ ११ ॥
उस्सुत्तदेसणाकारगाण जे उण करंति बहुमाणं । आणावज्झाणं तेसि होइ सम्मत्तमिह कत्तो ॥ १२ ॥
अणुसोयगामिणो बहुजणा उ पडिसोयगामिणो थोवा । ता नो बहुजणचिन्ने, मुक्खत्थी लग्गए मग्गे ॥ १३ ॥
समणगुणरयणनिहिणो, थोवा सद्धम्मरयणदायारो । सुविसुद्धधम्मरयणत्थिणोत्थि जेणित्थ थोवयरा ॥ १४ ॥
इय वयणाओ बहुजणमयम्मि मग्गे कहं विवेईहिं । लग्गिज्जइ लहुकम्मेहिं सव्वहा हासठाणम्मि ॥ १५ ॥ ”
तथा–(चैत्यवन्दनकुलके गा० ६–१३)
“ आययणमनिस्सकडं विहिचेइयमिह तिहा सिन्नकरं तु । उस्सग्गओऽववाया, पासत्थोसन्नसन्निकयं ॥ ६ ॥

1 ‘ स–पुण्यैः ’ इति छाया ।

आययणं निस्सकडं, पव्वतिहीसुं च कारणे गमणं । इयराभावे तस्सत्ति भावसुवुड्डित्थमोसरणं ॥ ७ ॥
विहिचेइयम्मि संते पइदिणगमणे य तत्थ पच्छित्तं । समउत्तं साहूण वि, किमंगमबलाण सड्ढाणं ॥ ८ ॥
मूलुत्तरगुणपडिसेविणो य ते जत्थ संति वसहीसु । तमणाययणं सुत्ते, सम्मत्तहरं फुडं वुत्तं ॥ ९ ॥
जत्थ वसंति मढाइसु, चिइदव्वनिओगनिम्मिएसुं च । साहम्मिणोत्ति लिंगेण सा थली इय पकप्पुत्तं ॥ १० ॥
तमणाययणं फुडमविहि चेइयं तत्थ गमणपडिसेहो । आवस्सयाइसुत्ते, विहिओ सुस्साहुसड्ढाणं ॥ ११ ॥
जो उस्सुत्तं भासइ, सद्दहइ करेइ कारवइ अन्नं । अणुमन्नइ कीरंतं, मणसा वायाइ काएणं ॥ १२ ॥
मिच्छद्दिट्ठी निअमा, सो सुविहिअसाहुसावएहिं पि । परहरणिज्जो जइंसणेवि तस्सेह पच्छित्तं ॥ १३ ॥"

तदेवं स्वरूपमनायतनायतनस्वरूपमुक्तम् ।

यत्र, किम् ?, स्यात्=भवति कोऽसौ ? मेलः=मेलापकः सम्बन्धः, कथम् ? समं सह, केन ? विधिना=यथोचितावश्यकृत्येन । तथा गुरुपारतन्त्र्यात्=आचार्यपारम्पर्येण । तथा समयः=सिद्धान्त ओघनिर्युक्त्यावश्यकादिस्तत्र सुष्ठु=अतिशयेन उक्तं=भणितं समयसूक्तं, तस्मात्समयसूक्ततः । यदि वा–समयश्चासौ सूत्रं च वृत्त्यादिनिरपेक्षं समयसूत्रं तस्मात्समयसूत्रतः यस्य=आयतनस्य निष्पत्तिः=संसिद्धिः । यदि वा यस्य विधेर्निष्पत्तिर्गुरुपारतन्त्र्यात्समयसूत्राच्च, " निट्ठीवणादिकरणं, असक्कहाणुच्चिअ आसणाई य । " इत्यादिकस्य विधेः निष्पत्तिरिति गाथार्थः ॥ १०६ ॥

अथ कीदृशो विधिर्येन तेषां मुग्धजनानामायतनं दर्शितम् ? इति तमेव प्रपञ्चयन् गाथाष्टकमाह—

दीसइ य वीयराओ, तिलोयनाओ विरायसहिएहिं। सेविज्जंतो संतो, हरइ हु संसारसंतावं ॥१०७॥

आसां (पृथक्) व्याख्या—' दीसइ ' इत्यादि । ' यत्रे 'ति पूर्वगाथाया अनुवर्त्तते तेन चकारः संबध्यते ततो-यत्र चायतने दृश्यते जनैरिति गम्यम्, वीतरागो भगवान् देवाधिदेवो नष्टरागः, राग इत्यस्याशेषदोषोपलक्षणत्वादष्टादशदोषविनिर्मुक्तः, कीदृशः ? त्रिलोके=त्रिभुवने ज्ञातः=द्विरदरदनच्छेदः-कुन्दकुमुदविशद=कीर्त्तिकौमुदीधवलितनिखिलब्रह्माण्डमण्डपत्वेन विख्यातस्त्रिलोकज्ञातः । यदि वा सश्रीकनिःश्रीकेतरत्वावस्थितत्रिविधलोकेन ज्ञातः=तद्गतचित्तत्वेन तदेकाग्रदृष्टितया च यथावस्थितगुणो विदितः । कीदृशैर्जनैः ? विरागसहितैः-विरजनं विरागः=संसारवैराग्यं तेन सहितैः=समेतैर्विरागसहितैर्न तु रागातुरैः, यो भगवान् सेव्यमानः=आराध्यमानः सन् हरते=अपनयति ' हुः ' पादपूरणे संसारसन्तापं=भवदवमित्यर्थः ॥ १०७ ॥

वाइयमुवगीयं नट्टमवि, सुअं दिट्ठमिट्ठमुत्तिकरं। कीरइ सुसावएहिं, स-पराहियं समुचिअं जत्थ।१०८।

व्याख्या—' वाइयमुवगीय ' मित्यादि । यत्र आयतने वादितं शङ्खपटहभेरीमृदङ्गादीनां वादनं क्रियत इति योगः । न केवलं वादितं नाट्यमपि=लास्यमपि, कथम् ? उपगीतं=गानसमीपे यत् कीदृशं वादितं नाट्यं च ? यथासम्भवं श्रुतम्-आकर्णितं, दृष्टम्-अवलोकितम्, इष्टा=अभिमता या मुक्तिः=निर्वृतिस्तां करोतीति इष्टमुक्तिकरम् । कैः क्रियते ? इत्याह-सुश्रावकैः=शोभनश्राद्धैः । तदपि वादितं गीतं नाट्यं यत् समुचितं=युक्तं न त्वनुचितं, तस्योपहासास्पदत्वादेवोक्तमनेनैव भगवता

यथा—"वागविरुद्धा नवि गाइज्जइ" इत्यादि । अत एव स्वपरहितम्—आत्मेतरपथ्यं शुभभाववृद्धिहेतुकत्वादित्यर्थः ॥ १०८ ॥

तथा—

रागोरगो वि नासइ, सोउं सुगुरूवएसमंतपए । भव्वमणो—सालूरं, नासइ दोसो वि जत्थाही ॥१०९॥

व्याख्या—'रागो०' इत्यादि । अत्र आयतने रागः=स्त्र्याद्यभिष्वङ्गः स एव उरगः=सर्प्पः भीमत्वदशनशीलत्वादिभिर्हेतुभिः रागोरगः, सोऽपि नश्यति=दूरतः पलायते, अपि संभावनायां संभाव्यते एतद् वक्ष्यमाणप्रकारेण किमत्रासंभाव्यमित्यर्थः । किं कृत्वा ? श्रुत्वा=आकर्ण्य, कानि ? सुगुरूपदेश एव=सद्धर्म्माचार्यस्य हितवचनान्येव मन्त्रपदानि यत्र आयतने "ॐ नमः श्रीघोणसेहरे २ वरे २ तरे २ वः २ वल २ लां २ रां २ रीं २ रौं २ र २ स २" इत्यादिमन्त्राक्षराणि सुगुरूपदेशमन्त्रपदानि । तथा यत्र आयतने भव्यानाम्=आसन्नसिद्धिकानां मनः=चित्तं भव्यमनस्तदेव सालूरो=दर्दुरस्तं नाश्नाति=नात्ति । द्वेषः=परगुणासहनं सोऽपि अहिरिव अहिः=भुजङ्गः । द्वेषस्यापि अहित्वं निरूपयता द्वयोरपि रागद्वेषयोः 'यत्र रागस्तत्र द्वेषो, यत्र द्वेषस्तत्र रागः' इत्यन्योन्यानुगतत्वं दर्शयति, तदुक्तम्—

"रागविसयादऽभिन्नो, दोसो त विसयगोयराणत्ते [न्ने] । रागो तम्हा दुन्निवि, अन्नोन्नगया इमे लोए ॥ १ ॥"

अयमपि सुगुरूपदेशमन्त्रपदप्रभावः, पठ्यते च लोकेऽप्ययमर्थः, तथाहि—

"सालूरो कसिणभुअंगमस्स जं दलइ मत्थए पायं । तं मन्ने कस्सवि मंतवाइणो फुरइ माहप्पं ॥ १ ॥"

इति गाथार्थः ॥ १०९ ॥

नो जत्थुस्सुत्तजणुक्कमो त्थि ण्हाणं बली पइट्ठा य। जइ जुवइपवेसो वि अ,न विज्जई विज्जइविमुक्को ॥११०॥

व्याख्या—'नो जत्थुस्सुत्तजणक्कमोत्थि' इत्यादि । नो=नैव यत्र आयतने उत्सूत्रजनक्रमः—सूत्रात्—आगमात् उत्क्रान्तम् उत्सूत्रं, तच्च स्थावरप्रायोग्यकूपखननादि चेलाञ्चलवन्दनादिकं तद्धापणात् 'मञ्चाः क्रोशन्ती' तिवत्—जना अपि, उत्सूत्राश्च ते जनाश्च उत्सूत्रजनास्तेषां क्रमः=कल्पोऽधिकार इत्यर्थः उत्सूत्रजनक्रमः अस्ति=विद्यते । तथास्नानं स्नात्रं बलिः=सुकुमारिकाद्युपहारः, प्रतिष्ठा च=प्रतिष्ठापनं, 'चः' समुच्चये, यतियुवतिप्रवेशोऽपि च—यतिः—साधुः, युवतिः—अङ्गना तयोः प्रवेशः जिनभवनद्वारकपाटान्तर्भवनं यतियुवतिप्रवेशः, सोऽपि, 'चे' ति पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः, न विद्यते । कीदृशो यतिः ? 'विज्जइविमुक्को' वेत्तीति वित्—ज्ञानी विवेकीत्यर्थः, स चासौ यतिश्च=अनगारश्च विद्—यतिस्तेन विमुक्तः=परिहृतो विद्—यतिविमुक्तः ॥ ११० ॥

इति सामान्येन प्रतिषेधमस्यां गाथायां प्रतिपाद्याधुना सर्वकालविषयं नियमविशेषमाह—

जिणजत्ता-ण्हाणाई,-दोसाणं जं खया य कीरंति। दोसोदयम्मि कह तेसिं संभवो भवहरो हुज्जा ॥१११॥

व्याख्या—'जिणजत्ताण्हाणाई' इत्यादि । जिनानाम्—अर्हतां यात्राः=अष्टाहिकाद्युत्सवाः, तथा स्नानबलिप्रतिष्ठाः—पूर्वप्रतिपादिताः, एते यात्रास्नानादयो,—दोषाणां=रागद्वेषमोहमदमात्सर्यादीनां यस्मात्क्षयाय=विध्वंसाय क्रियन्ते=विधीयन्ते, ततश्च दोषोदये=रजनीसंभवे कथं=केन प्रकारेण ? तेषां=दोषक्षयार्थं क्रियमाणानां यात्रास्नात्रबलिप्रतिष्ठापनानां संभवः=सद्भावो

भवहरः=संसारोच्छेदकरो भवेत्=स्यात्? न कथञ्चिदित्यर्थः। तथाहि,-रात्रौ जिनमन्दिरे यात्रादिके क्रियमाणे देशान्तरागतस्थानस्थितश्रावकश्राविकामेलापके नटविटादिकुशीलजनसंपर्कवशादनर्थवृद्धिरेव केवलं, न पुण्यवृद्धिः, श्रीजिनवल्लभसूरिभिरपि "इष्टावाप्ति" इत्यादिसङ्घपट्टकवृत्तै(१८ । १९ । २०)स्तथैवोक्तत्वात्। यच्च मेरुमस्तके चेन्द्रेण स्नात्रे क्रियमाणे सततोद्वरद्बहलविमलमाणिक्यशिलामरीचिनिचयोद्योतेन सुरमहिम्ना च शश्वद्भास्वरत्वेन रात्रिन्दिवविभागो नास्तीति। तथा बलिदानमपि रात्रौ संसरज्जीवसंघातवधजन्यकर्मबन्धात्?, 'अहोऽमी श्रावकाः स्वयं रात्रिभोजननिषेधेऽपि स्वदेवस्याग्रतो निशि बलिमुपढौकयन्ति अतः कीदृगमीषां रात्रिभोजनविरतिः?' इति लोकोपहासात्, लौकिकमार्गेऽपि—

"नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्। न दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥ १ ॥"

इत्यनेन रात्रौ स्नात्रदेवार्चनादेर्निवारणात्, बलिक्षेपणप्रस्तावे "महिमं च सूरुग्गमणे करिंति" इत्यावश्यकचूर्णिवचनप्रामाण्याच्च रजन्यामसंगतमेव। निशि जिनप्रतिमाप्रतिष्ठायामपि मज्जनोक्तदूषणजातं सकलमवसेयम्। सा च दिनेऽपि सूरिणैव कार्या-"रूप्यकच्चोलकस्थेन, शुचिना मधुसर्पिषा। नयनोन्मीलनं कुर्यात्, सूरिः स्वर्णशलाकया ॥ १ ॥" इत्युमास्वातिवाचकोक्तप्रतिष्ठाकल्पप्रामाण्यात्, तथा—

"एवं संनद्धगत्तो, सुइ दक्ख जिइंदिओ य थिरचित्तो। सिअवत्थपाउयंगो, पोसहिओ कुणइ हु पइट्ठं ॥ १ ॥
वंदित्तु चेइयाइं, उस्सग्गो तह य होइ कायव्वो। आराहणानिमित्तं, पवयणदेवीए संघेण ॥ २ ॥
सदसेण धवलवत्थेण वेढिअं धूवपुप्फवासेहिं। अभिमंतिउं तिवाराउ सूरिणा सूरिमंतेण ॥ ३ ॥

इअ विहिणा अहिवासेज्ज देवबिंबं निसाइ सुद्धमणो । तो उग्गयंमि सूरे, होइ पइट्ठासमारंभो ॥ ४ ॥ ”

इत्यार्यसमुद्राचार्यप्रतिष्ठाकल्पवचनात्, “ नमिविनमिकुलान्वयिभिर्विद्याधरनाथकालिकाचार्यैः । कासहृदाख्ये नगरे, प्रतिष्ठितो जयति जिनवृषभः ॥ १ ॥” इति चिरन्तनस्तोत्रपाठाच्च, न तु कदाचिदपि श्रावकेण । एवं नन्दिविधानमपि रात्रौ महादोषं, तथाहि–दीक्षाद्यर्थं हि नन्दिकरणं, दीक्षा च स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातविरतिलक्षणा, रात्रौ च प्राकाम्यहेतुकप्रज्वालितभूरिप्रदीपतेजस्कायिकजीवानां स्वयं शरीरस्पर्शेन व्यापादनात् कज्जलध्वजेषु च निरन्तरनिपततां लक्षशः पतङ्गादिजन्तूनां व्यापत्तिनिमित्तभावात्–कीदृशी दीक्षादातृगृहीत्रोः सर्वविरतिः ? । तथा च ‘करेमि भंते ! सामाइयं’–इत्यादिसर्वविरतिसामायिकसूत्रस्यापि तत्क्षणं शिष्येणोच्चार्यमाणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः, शिष्यस्य प्रथमक्षणादारभ्य प्राणातिपातप्रवृत्तेः, दीक्षादातुश्च दोषसंख्यापि वक्तुं न शक्यते, तच्छि[दी]क्षया तावज्जन्तुजातव्याघातप्रवृत्तेः । तथा विमलकेवलालोकेन भगवता तावतां शिष्यलक्षाणां मध्यात्कस्यापि न क्षणदायां दीक्षणमदायि ?, ‘दिवसाईयं तित्थं च’ (?) इति भगवद्वचनं, ततो भगवदाचारं भगवदाज्ञां च प्रमाणयतां तत्पथवर्त्तिनामैदंयुगीनानां तद्विनेयानां कथं निशि तत्कर्त्तुं युज्यते ? इति एवं चोत्सूत्रजनक्रमस्य सर्वकालविषयः प्रतिषेधः यात्रास्नात्रादीनां च निशागोचरः प्रतिपादित इति गाथार्थः ॥ १११ ॥

तथा—

जा रत्ती जारत्थीणमिह रइं जणइ जिणवरागिहेवि । सा रयणी रयणियरस्स हेउ कह नीरयाण मया ।११२।

व्याख्या–‘ जा रत्ती जारत्थीण ’मित्यादि । या रात्रिः=निशा जारस्त्रीणाम्=उपपतियोषिताम् इह=अत्र जगति रतिं=

सुरतं जनयति=उत्पादयति जिनवरगृहेऽपि=तीर्थकृद्भवनेऽपि । अपिशब्दो गर्हां द्योतयति यथा—अत्यन्तगर्हितमेतद् यद् वीतरागमन्दिरेऽपि सुरताज्ञां जनयति । 'सा रजनी 'ति, 'सा ' इत्यनेनैव पूर्वोपात्तायां रात्रावुपलब्धायां पुना रजनीग्रहणं तस्या विशेषतः सदोषत्वख्यापनार्थम्, यमकानुरोधेन वा रजोनिकरस्य=पातकव्रातस्य हेतुः=कारणं कथं=केन प्रकारेण नीरजसां=अहः कणेनाप्यस्पृष्टमनसां पुंसां मता=अभिमता संगता यात्रास्नात्रप्रतिष्ठाबलिनन्दिविधानादौ स्यात् ? न कथञ्चिदित्यर्थः । तथैतावता स्त्रीप्रवेशनिषेधोऽपि 'नो जत्थुस्सुत्तजणक्कमोत्थि ' इति पूर्वगाथोद्दिष्टः सोऽपि समर्थितः । आगमोऽप्यत्रार्हत्समवसरणे—

" अज्जाण साविआण य, अकालचारित्तदोसभावाओ । ओसरणम्मि न गमणं, दिवसतिजामे निसि कहं ता ? ॥१॥ "

इति स्त्रीणां रात्रौ जिनसदनान्तःप्रवेशनिषेधकृद्वर्त्तते । अत्र च साधुप्रवेशनिषेधस्थापनानन्तरं स्त्रीप्रवेशनिषेधव्यवस्थापनं प्राक् स्त्रीप्रवेशस्य सकलानर्थमूलत्वसूचनार्थम् ॥ ११२ ॥

अथ रात्रौ जिनगृहान्तः साधुप्रवेशनिषेधमुद्दिश्याह—

साहू सयणासणभोयणाइआसायणं च कुणमाणो । देवह—रएण लिप्पइ, देवहरे जमिह निवसंतो ॥११३॥

व्याख्या—' साहू सयणासणभोयणाइं ' इत्यादि । साधुः=यतिः, शयनं=स्वापम्, आसनम्=अवस्थानं, भोजनम्=आहारम्, आदिशब्दान्मूत्रपुरीषादिरूपम् आशातनां भगवदवज्ञाजनितज्ञानादिलाभभ्रंशरूपां, च शब्दात्देवद्रव्यविहितमठादिसाक्षाद्देवद्रव्योपभोगपरिग्रहः, कुर्वाणः=विदधानः कस्याशातनां कुर्वाणः ? तत्राह—' देवह 'त्ति प्राकृतापभ्रंशलक्षणाऽत्र षष्ठी

तेन देवस्य=अर्हतो रजसा=पापेन लिप्यते देवगृहे यदि निवसन् तिष्ठन्नित्यक्षरार्थः । चैत्यनिवासनिषेधश्च साधूनां प्राक् प्रतिष्ठित इति ॥ ११३ ॥

तंबोलो तं बोलइ, जिणवसहिठिएण जेण सो खद्धो । खद्धे भवदुक्खजले, तरइ विणा नेय सुगुरुतरिं ।११४

व्याख्या—'तं बोलो तंबोलइ' इत्यादि । ताम्बूलं=नागवल्लीदलपूगीफलचूर्णयोगः तं ब्रोडयति, क ? भवदुःखजले=संसृतिकृच्छ्रसलिले, कीदृशे ? खद्धे=प्रचुरे, येन किम् ? इत्याह-तत्ताम्बूलं खद्धं=भक्षितम् । कीदृशेन सता ? जिनवसतिस्थितेन=तीर्थकृद्भवनान्तर्भूतेन । नन्वसौ जिनभवनताम्बूलभक्षणोद्भूताशातनापातकात् कथञ्चित्तरति भवसागरम् ? न इत्याह-नैव तरति=नोपप्लवते, कथम् ? विना, काम् ? सुगुरुतरीं=सद्धर्म्माचार्यनावमिति गाथाष्टकसंक्षेपार्थः ॥ १०७=११४ ॥

एवं तावज्जिनभवनरूपमायतनं दर्शयित्वा, येन ज्ञानादित्रयपवित्रगात्रसत्पात्रसाधुरूपमपि तेषां मुग्धश्रद्धालुश्राद्धानां दर्शितमित्यधुनाऽऽह—

तेसिं सुविहिअजइणो य दंसिआ जे उ हुंति आययणं । सुगुरुजणपारतंतेण पाविआ जेहिं नाणसिरी ।११५

व्याख्या—तेषां=सरलश्रावकाणां न केवलं जिनभवनमायातनं दर्शितं किन्तु सुविहितं=शोभनं विहितम्=अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, सुविहिताश्च ते यतयश्च सुविहितयतयस्ते च दर्शिताः, ये, किं ?मित्याह-भवन्ति, आयतनं=ज्ञानादिलाभस्थानं तु शब्दाश्चार्थे भिन्नक्रमश्च ततो यैश्च साधुभिः प्राप्ता=आसादिता, काऽसौ ? ज्ञानश्रीः=श्रुतज्ञानलक्ष्मीः । किं पार्श्वस्थादि-

पारम्पर्येण ? नेत्याह–सुगुरुजनस्य पारवश्येन पारम्पर्येण चेति गाथार्थः ॥ ११५ ॥

अथ तानेव सुविहितसाधून् असाधारणगुणैः स्तुवन्नाह—

संदेहकारितिमिरेण तरलिअं जेसि दंसणं नेय। निव्वुइपहं पलोयइ, गुरुविज्जुवएसओ सहओ ॥११६॥

व्याख्या—येषां सुविहितसाधूनां दर्शनं=सम्यक्त्वं नैव–तरलितं=नैव व्यामूढं, केन ? सन्देहकारि=संशयाधायि यत्तिमिरम्=अन्धकारं तेन चाज्ञानमुपलक्ष्यते तद्रूपत्वात्तस्य, ततः अज्ञानेन=सन्देहकारितिमिरेण। किं तर्हि ? प्रलोकते=पश्यति, किम् ? निर्वृतिपथं=मोक्षमार्गम् । कस्मादेव ? मित्याह–गुरुरेव वैद्यो–भिषक् तस्योपदेशः=हितकृत्यप्रेरणं तदेवौषधं=तिक्तादिद्रव्यमेलापको गुरुवैद्योपदेशौषधं तस्मात्तथेति, अयमभिप्रायः–यथा दर्शनं "दर्शनं दर्पणे धर्म्मोपलब्ध्योर्बुद्धिशास्त्रयोः । स्वप्नलोचनयोश्चापि" इति (हैमानेकार्थ० ९८१) वचनात्लोचनं तिमिरेण=दृष्टिरोगेण सन्देहकारिणा 'किमयं विष्णुमित्रश्चैत्रो वे ?' ति संशयोत्पादकेन गुरुर्ज्येष्ठ=परिणतवया इत्यर्थः, तादृशो यो वैद्यः=चिकित्सको गुरुवैद्यस्तेनोपदेशः=उपदिष्टं यदौषधं="मुस्ता शिरीषबीजं, कपित्थबीजं करञ्जबीजं च। त्रिकटुकसुनागकेसर–मथ वंशत्वक् समैर्भागैः ॥ १ ॥ छायाशुष्का कार्या, गुटिका चनकप्रमाणिका नित्यम् । मधुना घृष्टाञ्जनतस्तिमिरं दूरेण नाशयति ॥ २ ॥" इत्यादि, तस्मात् न तरलीक्रियते=न संदेग्धि किन्तु निर्वृतिहेतुं सुखावहं पथं=मार्गं प्रलोकयतीत्येवमिति प्रतीयमानोऽर्थ इति गाथार्थः ॥ ११६ ॥

तथा—

निप्पच्चवायचरणा, कज्जं साहिंति जे उ मुत्तिकरं । मन्नंति कयं तं जं, कयंतसिद्धं तु स—परहिअं ॥११७॥

व्याख्या—' जे उ ' त्ति, तुशब्दश्चार्थस्ततो ये च साधयन्ति=निष्पादयन्ति, किम् ? कार्यं=व्यापारं निर्वाणसाधकं प्रतिलेखनाप्रमार्जनाभिक्षाचर्येर्यापथिकाऽऽलोकभोजनादिदशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृतिकमित्यर्थः । कीदृशाः सन्तः ? निष्प्रत्यवायं=निष्प्रायश्चित्तं=निरतिचारं चरणं—चारित्रं येषां ते तथाविधाः सन्तः। तथा ये च मन्यन्ते=जानते, किम् ? कृतं, किं तत् ? तपः=कष्टक्रियाप्रासुकोदकादिकं यत् कि ? मित्याह—कृतान्तसिद्धं तु=आगमनिष्पन्नमेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, श्रुतोक्तताविकलस्य समस्तस्याप्यजागलस्तनकल्पत्वात् । कृतान्तसिद्धक्रियाविधानं। पुनः कीदृशम् ? यतः स्वपरहितम्=आत्मनः परेषां च सर्वथा संसारदुस्तरापारपारोत्तारकारकमित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

तथा—

पडिसोएण पयट्टा, चत्ता अणुसोयगामिणी वट्टी । जणजत्ताए मुक्का, मय-मच्छर-मोहओ चुक्का ॥११८॥

व्याख्या—' ये च ' इत्यत्रापि संबध्यते, ये च, कीदृशाः ? प्रवृत्ताः=प्रस्थिताः, केन ? मार्गेणेति शेषः, किं रूपेण ? प्रतिश्रोतसा=संसारनिस्तारकेण गुरुकुलवासकुग्रहनिर्वास—संयमश्रीविलासशुद्धतपो-नुपहासो-द्यतविहार-शुभभावनाप्रकार-परोपकारसारत्वादिलक्षणेनेत्यर्थः । तथा ' ये च ' इत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति यैश्च त्यक्तं=मुक्तं ;' वट्टि 'त्ति प्राकृतत्वात्स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, वर्त्म=मार्गः, कीदृशम् ? अनुश्रोतोगामि=संसारसमुद्रपातकम् " अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो "

इत्यागमवचनात्, गड्डरिकाप्रवाहपन्था यैः सर्वथा परिहृता इत्यर्थः, अत एव जनयात्रया=लोकव्यवहारेण गृहव्यापारचिन्ता-कुटुम्बवार्त्ता-गृहस्थनिरन्तरसंसर्गादिना मुक्ताः=त्यक्ताः। तथा मदमत्सरमोहतः-मदः=अहङ्कारः, मत्सरः=परगुणासहनं, मोहः=स्वजनादिस्नेहबन्धस्तेभ्यो मदमत्सरमोहतः चुक्काः=भ्रष्टास्तद्रहिता इति गाथार्थः ॥ ११८ ॥

तथा—

सुद्धं सिद्धंतकहं, कहंति बीहंति नो परेहिंतो। वयणं वयंति जत्तो, निव्वुइवयणं धुवं होइ ॥११९॥

व्याख्या—ये च शुद्धां=निर्दूषणाम्-उत्सूत्रविवर्जितां, सिद्धान्तकथां=धर्मदेशनां कथयन्ति=प्रतिपादयन्ति। तां च भाषमाणा न परेभ्यः=इतरेभ्यो बिभ्यति=त्रस्यन्ति कालिकाचार्यवत् स्फुटं प्रकटं दिशन्तीत्यर्थः, किं बहुना ये महात्मानो वचनमपि=पदमपि उपशमविवेकादिरूपं तदेव वदन्ति=उच्चारयन्ति यस्मात् निर्वृतिव्रजनं=मुक्तिगमनं ध्रुवं=निश्चितं=भवति स्यादिति गाथार्थः ॥ ११९ ॥

अन्यच्च येन तेषां मुग्धश्राद्धानां किमुपदिष्टम्? तत्राह—

तव्विवरीया अन्ने, जइवेसधरा वि हुंति न हु पुज्जा। तद्दंसणमवि मिच्छत्तमणुखणं जणइ जीवाणं ॥१२०॥

व्याख्या—भो भो भव्याः! तद्विपरीताः-तेभ्यः=सुविहितसाधुभ्यो विपरीताः=असंविग्नत्वानुपदेशकत्व-सिद्धान्ततत्त्वानभिज्ञत्व-क्षेत्रकालाद्यपेक्षानुष्ठानशून्यत्वोत्सूत्रभाषकत्व-क्रूरत्वा-सहिष्णुत्वा-नार्जवत्व-सतृष्णत्व-निर्दयत्वा-नृतभाषित्व-

स्तैन्यकृत्त्वा-ब्रह्मचारित्व-सकिञ्चनत्वा-नुद्यतविहारित्व-तपःक्रियाबाह्यत्व-गुर्वाज्ञाविमुखत्वै-काकित्वादिविलक्षणगुणाः अन्ये= अपरे यतिवेषधरा-अपि=सत्साधुनेपथ्यमुद्रामुद्रिता अपि आस्तां तद्विकलाः परं न भवन्ति पूज्याः=आराध्याः । ननु मा भूवन्नाराध्यास्ते, किन्त्वालापसंवासविश्रम्भादिविषयास्तादृशा अपि भविष्यन्ती ?त्याह-भो भो मुग्धाः ! अज्ञातसिद्धान्त-तत्त्वाः ? शृणुत यत्तद्दर्शनमपि=चक्षुपा निरीक्षणमात्रमपि अनुक्षणं=प्रतिमुहूर्त्तं मिथ्यात्वं=कुदृष्टित्वं जनयति=विधत्ते जीवानां= भव्यप्राणिनाम्, यत उक्तम्—

" उस्सुत्तभासगा जे, ते दुक्करकारगा वि सच्छंदा । ताणं न दंसणं पि हु, कप्पइ कप्पे जओ भणिअं ॥ १ ॥

जे जिणवयणुत्तिन्नं, वयणं भासंति जे य मन्नंति । [अहवा] सम्मदिट्ठीणं तद्दंसणं पि, संसारवुड्ढिकरं ॥२॥ इति गाथार्थः ॥१२०॥

तथा—

धम्मत्थीणं जेणं, विवेयरयणं विसेसओ ठविअं। चित्तउडे चित्तउडे, ठियाण जं जणइ निव्वाणं १२१॥

व्याख्या—धर्मार्थिनां=साधारणप्रमुखश्राद्धानां येन विवेकरत्नं=हेयोपादेयपरिज्ञानमाणिक्यं चित्तपुटे=हृदयपत्रपात्रे स्थापितं=निहितं चित्रकूटे स्थितानां श्रावकाणां यज्जनयति निर्वाणं=सुखं=मुक्तिं चेति गाथार्थः ॥ १२१ ॥

अन्यच्च येन भगवता किं चक्रे ? तत्राह—

असहाएणावि विहीय, साहिओ जो न सेससूरीणं। लोयणपहे वि वच्चइ, वुच्चइ पुण जिणमयन्नूहिं ॥

व्याख्या–' येने ' ति ' जेण तओ पासत्थाइ ' (गा. १०३) इत्यतः संबध्यते ततो येन भगवता असहायेनापि=एका-
किनापि परकीयसाहायकनिरपेक्षम् अपि=विस्मये अतीवाश्चर्यमेतत् विधिः=आगमोक्तः षष्ठकल्याणकप्ररूपणाचैत्यवासिनिरा-
सादिरूपश्चैत्यादिविषयः पूर्वदर्शितश्च प्रकारः ' प्रकर्षेणेदमित्थमेव भवति यात्रार्थेऽसहिष्णुः स वावदीतु ' इति स्कन्धास्फा-
लनपूर्वकं साधितः=सकललोकप्रत्यक्षं प्रकाशितः। यो न शेषसूरीणाम्–अपराचार्याणामज्ञातसिद्धान्तरहस्याणामित्यर्थः, लोचन-
पथेऽपि=दृष्टिमार्गेऽपि आस्तां। श्रुतिपथे व्रजति=याति, उच्यते पुनर्जिनमतज्ञैः=भगवत्प्रवचनवेदिभिरिति गाथार्थः ॥ १२२ ॥

तथा—

घणजणपवाहसरिआणुसोयपरिवत्तसंकडे पडिओ। पडिसोएणाणीओ, धवलेण व सुद्धधम्मभरो॥१२३॥

व्याख्या—येनेति पूर्ववत् ततो येन धवलेनेव–' विकटशकटधुराप्राग्भारधारणक्षमः स्वशक्तिसमुचितोत्साहनिर्वाहितसि-
कतोत्कटदुर्गमार्गनिपतितनानाद्रव्यनिचितशकटो वृषभो 'धवलः' इति लोके गीयते ' आनीतः=आरोपितः अवतारितः संस्था-
पित इत्यर्थः, कोऽसौ ? शुद्धधर्म्मभरः=मिथ्यात्वोत्सूत्रदेशनागड्डरिप्रवाहरहितः शुद्धधर्म्मस्तस्य भरः=" भरोऽतिशयभारयोः "
इति (हैमानेकार्थ० ४५०) पाठाद् अतिशयः प्राचुर्यमिति यावत्। धवलपक्षे च भरः=भारः, केनातीतः ? इत्याह–प्रति-
श्रोतसा=प्रतीपप्रवाहेण लोकमार्गातिक्रान्तेनेत्यर्थः। किमसौ क्वापि दुर्गस्थाने निपतितोऽभूत् ? एवमित्याह–' घणजणपवाह-
सरियाणुसोयपरिवत्तसंकडे पडिओ ' त्ति, घनाः=प्रभूतास्ते च ते जनाश्च घनजनास्तेषां प्रवाहो=विमर्शशून्यानुष्ठानं स एव
सरित्=तरङ्गिणी तस्या अनुश्रोतः=प्रवाहमार्गस्तत्र परिवर्त्तः=आवर्त्तस्तस्य संकटं=वैषम्यं घनजनप्रवाहसरिदनुश्रोतः परिवर्त्त-

संकटं तस्मिंस्तथा, पतितः=मग्नः । स्वयं निरीहेण निर्भयेन सिद्धान्ततत्त्वानुष्ठानाभिनिविष्टचित्तेनात्यन्तशुद्धचारित्रिणा निष्कलङ्कविधिमार्गः समुद्धृत इति तात्पर्यमिति गाथार्थः ॥ १२३ ॥

इदानीं तमेव पूज्यं जलधरसाम्येन वर्णयन् गाथायुगलमाह—

कयबहुविज्जुज्जोओ, विसुद्धलद्धोदओ सुमेहु व्व । सुगुरुच्छाइयदोसायरप्पहो पहयसंतावो ॥ १२४ ॥
सव्वत्थ वि वित्थरिउं, वुट्ठो कयसस्ससंपओ सम्मं । नवि वायहओ न चलो, न गज्जिओ जो जए पयडो ॥

व्याख्या—यश्च भगवान् सुमेघ इव=सजलजलधर इव पुष्कलावर्त्त इव । निर्जला ईषज्जलधराश्च नानारूपास्तोयदा भवन्तीति, तदुक्तम्—

“ हंहो ! चातक ! सावधानमनसा शिक्षा मिमां श्रूयता,–मम्भोदा बहवोऽपि संति भुवने सर्वेऽपि नैकादृशाः ।
केचिद्वारिभिरार्द्रयन्ति धरणीं गर्जन्ति केचिद्वृथा, यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा चाटुकारं कृथाः ॥ १ ॥ ”

अतो निर्जलाल्पजलजलधरनिरस्तये सुशब्दोपादानम्, अतश्चोभयोरपि शब्दसाधर्म्येण विशेषणान्याह—‘ कयबहुविज्जुज्जोओ ’ त्ति, कृतो=विहितो बहुविद्याभिः=नानाविध–छन्द–स्तर्क–नाटका–लङ्कार–सिद्धान्त–ज्योतिष–निमित्तशास्त्रविद्याभिरात्मनस्तत्सम्बन्धाऽऽर्जनमार्गस्य चोद्योतः=प्रकाशो येन स तथा । बहुविद्यानां वा, सहृदयहृदयचमत्कारिव्याख्यानेन भवति हि विद्यानां प्रकाशः । तथा ‘विसुद्धलद्धोदओ’ त्ति, विशुद्धैः=निर्मलात्मभिः साधारणश्राद्धप्रख्यैर्लब्धः=प्राप्तः

उदयः=ऐश्वर्याद्यभ्युदयः कल्याणं यस्मात्स तथा विशुद्धलब्धोदयः । यदि वा–विशुद्धाः=निष्कलङ्कास्तेषु मध्ये लब्ध उदयः=औन्नत्यं मूर्द्धाभिषिक्तत्वं येन स । तथा 'सुगुरुच्छाइयदोसायरप्पहो' त्ति, 'छाइय' पदानन्तरं 'सुगुरुपद' प्राप्तौ यदेतस्य पूर्वनिपातः [तत्] प्राकृतत्वात्, ततश्च छादिता=लुप्ता सुष्ठु गुर्वी=महती दोषाकराणां=चैत्यवासि–द्विजातीनामन्येषां च शुद्धमार्गप्रत्यनीकानां प्रभा=माहात्म्यं येन स छादितसुगुरुदोषाकरप्रभः । तथा प्रहतसन्ताप इति, प्रहतो=विध्वस्तः सन्तापः=आन्तरश्चित्तखेदो भव्यानां येन स प्रहतसन्तापः तथा ॥ १२४ ॥ सर्वत्रापि विस्तृत्य वृष्ट इति, सर्वत्रापि=नरवर–जाङ्गल–कूप–मरुकोट्ट–नागपुर–चित्रकूट–धारा–प्रमुखस्थानेषु विस्तृत्य=देशान्तरमभिव्याप्य विहृत्येत्यर्थः, वृष्ट इति, यथा 'कच्चोलैर्वर्षति' इत्यत्र लक्षणया दानशौण्डत्वं लक्ष्यते, एवं 'वृष्टः' इत्यनेनापि 'वितीर्णसुधासारप्रकारः देशनासंभारः' इत्यर्थो लभ्यते । तथा कृता=विहिता शस्या=श्लाघनीया साधुसाधर्मिकोपकारिणी देवभवनगुरुभक्तिवात्सल्यविस्तारिणी सिद्धान्तपुस्तकोद्धारकारिणी स्वजनस्वोपभोगादिविधानमनोहारिणी संसारनिस्तारणी दुर्गतिनिवारणी सम्पत्=लक्ष्मीर्येन स कृतशस्यसम्पत्, सम्यक्=निर्विकल्पम् । सुमेघपक्षे च कृतो बहुविद्युदुद्योतः पुनः पुनः किञ्चित्प्रकाशो येन स तथा । विशुद्धं=निर्मलं लब्धमुदकं येन स तथा । छादिता=अन्तर्हिता सुगुरोः=शोभनबृहस्पतेर्दोषाकरस्य=चन्द्रमसः प्रभा=तेजो येन स तथा । प्रहतसन्तापः=अपहृतमेदिनीघर्म्मः । सर्वत्र विस्तृत्य वृष्टः । कृतसस्यसम्पत्=विहितधान्यवृद्धिरिति ॥ अथ सर्वसाम्यशब्दश्लेषेण प्रतिषेधयन् व्यतिरेकमाह–'नवि वायहओ' त्ति, नापि वादहतः, नापि=नैव स्वपक्षप्रतिष्ठापनं परपक्षविक्षेपणं वादस्तत्र हतः=पराभूतो निर्जितः स्वप्नेऽपि कदाचिदपि । नापि चलः=अस्थिरः संलीनगात्रत्वाद्भगवतः । न गर्जितः='अहं

मौनी अहं ध्यानी अहं शाब्दिकोऽहं तार्किकोऽहं सैद्धान्तिकोऽहं तान्त्रिकोऽहं सकलशास्त्रपरिमलितमतिः किं बहुना ? नास्ति कश्चित् त्रिभुवनेऽपि तुल्यो मया'–इत्याद्यहङ्कारविकारधारकः, जगति=लोके प्रकटः=षडशीतिप्रकरण–सार्द्धशतकप्रकरण–पिण्डविशुद्धिप्रकरण-श्रीधर्म्मशिक्षादि–प्रकरण–सकलदिक्चक्रवालरङ्गाङ्गणनरीनृत्यमानकीर्त्तिनर्तकीकः, इति व्यतिरेकः । मेघो हि पवनेन हन्यते, तथा चलोऽस्थिरो भवति, प्रकटो दृश्यमानमूर्त्तिः सन् स गर्जितो भवतीति गाथायुगलार्थः ॥१२४॥१२५॥

ननु जलधिर्महांस्ततोऽसौ महात्मा तेन समो भविष्यति ? नेत्याह—

कहमुवमिज्जइ जलही, तेण समं जो जडाण कयवुड्ढी ।
तिअसेहिं पि परेहिं, मुयइ सिरिं पि हु महिज्जंतो ॥ १२६ ॥

व्याख्या—अस्यां गाथायां 'जेण समं' इति न्याय्यः पाठः । कथमुपमीयते=समीक्रियते जलधिर्येन समं=सार्द्धं यो जडानां=जाड्योपहतानां बठरशेखराणां कृता=विहिता वृद्धिः=ऐश्वर्याद्यभ्युदयप्राप्तिर्येन स तथा तादृशः । एतावता कुपात्रलक्ष्मीवितरणेन गुणागुणविभागानभिज्ञत्वं तस्य लक्ष्यते, पात्रापात्रविचारौचित्यनिक्षिप्तज्ञानश्रीसारश्चासौ भगवान् । यो मुञ्चति=त्यजति श्रियमपि=कमलामपि 'हुः' पादपूरणे, कीदृशः सन् ? मथ्यमानः=सुरादिभिर्बाध्यमान उपद्रूयमाण इत्यर्थः, कैः ? परैः=शत्रुभिः । ननु कथञ्चित्ते शतसहस्रसङ्ख्या भविष्यन्ति ततः शूरोऽपि लक्ष्मीं विहाय स्वप्राणरक्षायै पलायते ?, तन्नहीत्याह–' तिअसेहिं पि ' त्ति, त्रिभिर्दशभिरपि आस्तां शतेन सहस्रेण वेत्यपिशब्दार्थः । एतावता कातरशिरोमणित्वं तस्य

ण्यज्यते, अयं च भगवान्न तादृशः। किं तर्हि ? द्विषन्मानमर्दन—महेश्वरसुरेश्वरादिदेवताऽखण्डितशासन—श्रीमहामोहराज-
सम्बन्धिषोडशकषाय—नवनोकषाय—दर्शनत्रिका—ष्टप्रमादादिमाद्यद्विसंकटकष्टकोटीसंटङ्कारिदुर्वार—सुभटकोटीविक्षिप्तविश्वम-
ण्डलाखण्डन—दुर्ल्ललितोद्दण्डभुजादण्डाकलितललितज्ञानदर्शनचारित्ररत्नसारभाण्डागारमहीमण्डलमण्डनविहारः खल्वसौ संय-
मश्रीवक्षःस्थलनिस्तुलविलुलन्मुक्ताहारः। अथ च जलधिः 'डलयो' रेकत्वाज्जलानां वृद्धिं विधत्ते, त्रिदशैः=सुरैः परैः=उत्कृष्टै-
रिन्द्रादिभिर्मथ्यमानो=विलोड्यमानः श्रियं=लक्ष्मीं दामोदरवल्लभां मुञ्चतीति विरोधश्लेषोक्तिरिति गाथार्थः ॥ १२६ ॥

एवं समुद्रेणाऽसाम्येऽपि यस्य सूर्येण साम्यं विद्यते इति तेन साम्यं गाथाचतुष्टयेनाह—

सूरेण व जेण समुग्गएण संहरिअमोह-तिमिरेण। सद्दिट्ठीणं सम्मं, पयडो निव्वुइपहो हूओ ॥१२७॥

व्याख्या—येन समुद्गतेन=उदयं प्राप्तेन सूर्येणेव=रविणेव, कीदृशेन ? संहृतमोहतिमिरेण=विदलिताऽज्ञानान्धकारेणेति
करणे तृतीया। यदि वा सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात्ततो यस्मिन्नभ्युदिते, किं जगतः कल्याणमभूत् ?, तत्र चाह—सद्दृष्टीनां=
सम्यग्दृष्टीनाम्—अर्हत्साधुजिनप्रणीतधर्म्मैकशरणानां सम्यग्=निर्विकल्पः प्रकटः=स्फुटो निर्वृतिपथो=मोक्षमार्गो भूतः=सं-
पन्नः ॥ १२७ ॥ तथा—

वित्थरिअममलपत्तं, कमलं बहुकुमय—कोसिआ खुसिआ।
तेयस्सीण वि तेओ,—ऽवगओ विलयं गया दोसा ॥ १२८ ॥

व्याख्या—विस्तृतं=विस्तारं प्राप्तं, किं तत् ? कमलं, कं=मनोविज्ञानं मिथ्यात्व–सम्यक्त्व–कुगुरु–सुगुर्वादिहेयोपादेय–विवेक इत्यर्थः, अलम्=अतिशयेन, कीदृशम् ? अमलानि=निर्दूषणानि पात्राणि=आधाररूपाणि यस्मादिति ज्ञानविशेषणं, नहि ज्ञानाधारमन्तरेणात्मनः पात्रता बोभवीति । बहूनि=प्रभूतानि च तानि चैत्यवास–रात्रिस्नात्र–रात्रिबलि–रात्रिप्रतिष्ठादीनि बौद्ध–साङ्ख्य–नैयायिक–वैशेषिक–मीमांसकदर्शनाख्यानि कुमतानि च विचाराक्षमकदभिनिवेशाः, यदि वा कुत्सितं मतं येषां ते कुमताः पुरुषाः, बहवश्च ते कुमताश्च बहुकुमताः, एव कौशिकाः=घूकाः बहुकुमतकौशिकाः, ते, किमित्याह—'खुसिअ 'त्ति, दर्शनपथातिक्रमेण क्वचिन्[नः] संचार–प्रदेशवर्त्तिशून्यदेवकुलगृहादेरन्तर्निलीय स्थिताः । तथा तेजस्विनामपि=प्रभावतामपि तेजः=प्रभामाहात्म्यम् अपगतं=नष्टम् । तथा विलयं=प्रलयं गताः=प्राप्ताः दोषाः=रागद्वेषादयः, तेषां भस्मच्छन्नाग्निरूपतया सत्तामात्रेणावस्थितेः ॥ १२८ ॥

विमलगुण–चक्कवाया, वि सव्वहा विहाडिआ वि संघडिआ ।
भमिरेहिं भमरेहिं पि, पाविओ सुमणसंजोगो ॥ १२९ ॥
भव्वजणेण जग्गिअ,–मवग्गिअं दुट्ठसावयगणेण ।
जङ्गमावि खंडिअं मंडिअं च महिमंडलं सयलं ॥ १३० ॥

व्याख्या—तथा—विमलाः=निष्कलङ्का ये गुणाः=ज्ञानादिरूपाः शम-दमौ-चित्य-गाम्भीर्य-धैर्य-स्थैर्यादयश्च आत्मध-
र्मास्त एव चक्रवाकाः=कोकास्तेऽपि विघटिता अपि संघटिताः=वियुक्ता अपि आत्मनो मिलिताः। तथा 'भमिरेहिं'ति, भ्रमण-
शीलैः=अपरापरदेशविहारिभिः यतिभिरिति गम्यते, प्राप्त=आसादितः सुमनसां=सुसाधूनां सुमनोभिर्वा संयोगः=संगमः सम्ब-
न्ध इति यावत् सुमनः-संयोगः, नहि प्रपन्ननित्यवासानां स्थानान्तरस्थायिभिः सुसाधुभिः सुगुरुभिर्वा सह मेलापको घटाव्यते
॥१२९॥ व्याख्या—तथा—भव्यजनेन जागरितं=मोहनिद्रामुद्राविद्रावणेन, प्रतिबुद्धम्। तथा 'अवग्गियं दुट्ठसावयगणेणं'ति
"अ-मा-नो-नाः प्रतिषेधे" इति(व्याकरण)वचनात् न वल्गितं=न विस्फूर्जितं दुष्टश्रावकगणेन=प्रत्यनीकश्राद्धसङ्घेन, यदि वा-
द्विष्टाः=मत्सरिणस्ते च ते शापदाश्च=आक्रोशदायिनश्च द्विष्टशापदाः, तेषां गणः=समूहस्तेन द्विष्टशापदगणेन। तथा जाड्य-
मपि, पूर्वापेक्षायामपिः समुच्चये, जडत्वं=मूर्खत्वं तदपि खण्डितं=विध्वस्तम्। स हि भगवान् यस्य शिरसि स्वपद्महस्तं [स्व-
हस्तपद्मं] ददाति स जडोऽपि रामदेवगणिरिव वदनकमलावतीर्णभारतीकोऽत्यन्तदुर्बोधसूक्ष्मार्थसारप्रकरणवृत्तिं विरचयति।
तथा मण्डितं च=भूषितं च स्वचरणाम्भोजचङ्क्रमणेन महीमण्डलं=पृथ्वीमण्डलं सकलं=सम्पूर्णम्। सूर्यपक्षे च संहृतान्धकारेण
सदृष्टीनां=काचकामलाद्यनुपहतलोचनानां सम्यक्=निश्चितं प्रकटो निर्वृतिपन्था, निर्वृत्तिः=सुखं तद्धेतुः पन्थाः कीटककण्टकाद्य-
नाकीर्णमार्ग इत्यर्थः, भूतः=संपन्नः॥ विस्वृतं=विकशितम् अमलपत्रं=निर्मलदलं कमलं=पद्मम्। बहुकुमुदकौशिकाः=प्रभूत-
कुत्सिततोषोलूकाः (?) खुसिया=गुहान्तः प्रविष्टाः। तेजस्विनामपि=सप्तार्चि-माणिक्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारक-दीपादी-
नां तेजः=कान्तिः अपगतं=विलीनम्। विलयं=क्षयं गता दोषा=रात्रिः। तथा विमलगुणाः=विशुद्धपीतत्वादिवर्णा ये चक्र-

वाका 'अपि,' समुच्चयेऽपिशब्दः, सर्वथा=सर्वप्रकारेण विघटिता अपि=वियुक्ता अपि संघटिताश्चक्रवाकाः । रात्रौ वियोगः सूर्योदये च संयोगश्चक्रवाकचक्रवाक्योः, इयं दैववशात्स्थितिः, तथा चोक्तं केनापि—

" वदत किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा, व्रजति दिनकरोऽयं यत्र नास्तं कदाचित् ।
भ्रमति विहगसार्थानित्थमापृच्छमानो,-रजनिविरहखिन्नश्चक्रवाको वराकः ॥ १ ॥ "

तथा ' भमिरेहिं भमरेहिंपि 'त्ति, भ्रमणशीलैः=नानावनराजिसञ्चारिभिः, भ्रमरैः अपि=द्विरेफैरपि प्राप्तः सुमनःसंयोगः=" सुमना मालती जातिः " इत्यभिधानकोशपाठान्मालतीमेलापकः । मधुकरस्य हि सकलवनराजिमध्येऽत्यन्तं मालत्येव वल्लभा, तथा च पठ्यते—

" महमहिअं छज्जइ मालतीए एक्काए नवरि भुवणम्मि । जीसे गंधालिद्धा, भसलाभसलेहिं पिज्जंति ॥ १ ॥
नलिणमिणं मलिणमिणं, विरसमिणं गंधवज्जिअमिणं च । मालइरत्तो भसलो, परिहरइ वियारिउं कुसुमं ॥ २ ॥ "

भव्यजनेन=वणिक्-क्षत्रियादिलोकेन जागरितं=विबुद्धम् । अवलिगतं=निःशङ्कनोल्लसितं दुष्टश्वापदगणेन=सिंह-व्याघ्र-गण्डक-तरक्षादिक्षुद्रसत्त्वसमूहेन जाड्यमपि=शैत्यमपि, सर्वे 'अपि' शब्दाः समुच्चयार्थाः, खण्डितम्=अपनीतम् च । मण्डितं च=भूपितं च महीमण्डलं सकलं नानारत्न-नानासुवर्णाभरण-नानाक्रयाणक-नानाकणहट्टिका-नानाप्रकारशृङ्गाररसारमस्तकारोपितघटभारसंचरिष्णुनरनारीचार-नानाविधजातिगजतुरगपत्ति-प्रचार-जिनभवनवाद्यमानशङ्खपटहभेरीभाङ्कार-नानास्थानगच्छदागच्छन्मुनिविहारदक्षिणपूर्वदेशोत्तरापथप्रस्थातृसार्थसंचारैर्मण्ड्यत एव हि महीमण्डलमिति गाथाचतुष्टयार्थः ॥१३०॥

ननु यथा सूर्येण साम्यं तथा चन्द्रेणापि भविष्यति ?, न, इत्याह—

अत्थमई सकलंको, सया ससंको वि दंसिअपओसो। दोसोदए पत्तपहो, तेण समो सो कहं हुज्जा ॥१३१॥

व्याख्या—अर्थे=द्रविणे मतिर्यस्य सः अर्थमतिः=' धनं-धन ' मित्यापूरितध्यानः । तथा सकलङ्कः=सापवादः । तथा सदा=सर्वदा न तु कदाचित् । दर्शितप्रद्वेषः=संभावितमत्सरः। तथा दोषाणां चौर्यपारदार्यादिदूषणानाम् उदये=समुल्लासे प्राप्ता वक्त्रसच्छायता-प्रमोदकत्वादिलक्षणा प्रभा येन स दोषोदयप्राप्तप्रभः । शशाङ्कोऽप्येवंविधः । अयं च(आचार्यः)—

" त्वग्भेदच्छेदखेदव्यसनपरिभवाऽप्रीतिभीतिप्रमीति,-क्लेशाविश्वासहेतुं प्रशमदमदयां,-वल्लरी धूमकेतुम् ।
अर्थं निःशेषदोषाङ्कुरभरजनन,-प्रावृषेण्याम्बु धूत्वा, लूत्वा लोभप्ररोहं सुगतिपथरथं, धत्त सन्तोषपोषम् ॥ १ ॥ "

इत्यादिना दूषयन्नर्थनिचयं वैरस्वामीव हस्तेनापि न स्पृशति निर्ग्रन्थशिरोमणित्वात् । न च कलङ्कलेशेनापि स्पृष्टः । नापि दर्शितप्रद्वेषः गुणिषु बहुमानित्वात्, निर्गुणेषु चोपेक्षाकारित्वात् । नापि दोषाणामुदये प्राप्तप्रभः, तदाधायिनां तन्निग्रहोपायचिन्तकत्वात्तस्य । ततः कथमसौ भगवान् तेन तादृग्गुणेन शशाङ्केन चन्द्रमसा समः=तुल्यो भवेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थः । इति वक्रोक्त्या तत्प्रशस्त्यै व्यतिरेक उक्तः । अथ च—अस्तमेति, सकलङ्कः=सलाञ्छनः, दर्शितप्रदोषः रजनीमुखोदयित्वात्, दोषोदये=रजन्युत्थाने प्राप्तज्योत्स्नश्चन्द्र इति मौलोऽर्थः, इति गाथार्थः ॥ १३१ ॥

अथ तस्यैव विष्णुना सह साम्यमाह—

संजणिअविही संपत्तगुरुसिरी जो सया विसेसपयं ।
विण्हु व्व किवाणकरो, सुरपणओ धम्मचक्कधरो ॥ १३२ ॥

व्याख्या—यश्च विष्णुरिव=कृष्ण इव वर्त्तते इति क्रिया गम्यते । कीदृशः ? संजनितः=विशेषत उत्पादितः प्रकाशित इत्यर्थः, विधिः=देवगृहादिविषयो यथोचिताचारो येन स संजनितविधिः । तथा संप्राप्ता=सम्यगुलब्धा गुरुश्रीः="श्रीर्लक्ष्म्यां सरलद्रुमे । वेषोपकरणे वेषरचनायां मतौ गिरि । शोभा-त्रिवर्गसंपत्त्योः" इति (हैमानेकार्थ० १२) पाठाद् आचार्यलक्ष्मीर्येन स संप्राप्तगुरुश्रीः=लब्धयुगप्रधानाचार्यपद इत्यर्थः । यदि वा-गुर्वी=महत्तराश्रीः=शोभा येन । यदि वा गुरोरिव-वाचस्पतेरिव श्रीः=मतिर्येन गुर्वी=दूरदेशव्यापिनी श्रीः=गीर्येनेति वा । सदा विशेषपदमिति, ज्ञानविशेष-मन्त्रविशेष-तन्त्रविशेष-चारित्रविशेष-विद्याविशेषाणां समस्तानां पदं=स्थानम् । तथा 'किवाणकरो 'त्ति, कृपा=करुणा आज्ञा=भगवद्वचनं कृपाज्ञे ते करोतीति कृपाज्ञाकरः । सुरैः=चामुण्डादिदेवताभिः प्रणतः=वन्दितः । तथा धर्म्मचक्रधर इति, दुर्गतौ पतन्तं धारयतीति धर्म्मस्तस्यात्र प्रस्तावात्क्षान्त्यादिदशभेदत्वेन चक्रं-समूहस्तं धारयतीति धर्म्मचक्रधरः । यदि वा धर्म्मचक्रं नाम तपोविशेषम् । " धर्म्मो यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु । सत्सङ्गेऽर्हत्यहिंसादौ, न्यायोपनिषदोरपि ॥ " इति (हैमानेकार्थ० ३३५) पाठात् धर्म्मो न्याय उच्यते ततो न्यायचक्रं नाम जैनमन्त्रयन्त्रादिशास्त्रं वा, धर्म्मशब्देनोपमा स चालङ्कारविशेषस्तयोपमया युक्तं चक्रं=चक्रबन्ध=श्चित्रकाव्यविशेषस्तं धारयतीति वा । तथा चानेन भगवता कविचक्रचक्रवर्त्तिना नानारूपाः

सालङ्काराश्चक्रबन्धाश्चक्रिरे, तन्मध्यादेकमुपमोपेतं वर्णिकामात्रं चक्रं दर्श्यते—

" बिभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनाशादश्रुतोल्लङ्घने, सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः श्रीचन्द्रिकाभेश्वरम् ।
वन्दे वर्ण्यमनेकधा सुरनरैः शक्रेण चैनश्छिदं, दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरङ्गप्रदम् ॥ १ ॥ "

" चक्रं माघसमं "। अत्र च ' सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुःश्रीचन्द्रिकाभेश्वरम् ' इत्यत्र रूपकालङ्कारेऽप्युपमाया अन्तर्भावादुपमायुक्तत्वम् । ' जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे ' इति चात्र बन्धाक्षराणि । विष्णुपक्षे च संजनितः=उत्पादितो विधिः=" विधिर्ब्रह्मविधानयोः ॥ विधिवाक्ये च दैवे च, प्रकारे कालकल्पयोः ॥ " इति (हैमानेकार्थ० २६१) वचनात् ब्रह्मा येन स तथा, नारायणनाभ्यम्भोरुहसंभूतत्वेन तस्य ' पद्मयोनि 'रिति लोके विख्यातत्वात् । संप्राप्ता गुर्वी=बहुमान-पात्रं श्रीः=लक्ष्मीर्येन, क्षीरसमुद्रे हि मथिते स्वभाग्यवशात्केनापि किमपि किमपि प्राप्तं ततो लक्ष्मीः केशवेन प्राप्ता, तथा च पठ्यते—

" विहिविहिअं चिय लब्भइ, अमयं अमराण महुमहे लच्छी । रयणायरे वि महिए, हरस्स भाए विसं जायं ॥ १ ॥ "

सदाऽपि=सर्वदापि शेषस्य=निद्राकाले शय्यारूपस्य स्वामित्वेन पदं=त्राणम् । यदि वा–वेः=पक्षिणो गरुडरूपवाहनस्य शेषस्य च शयनभूतस्य पदं=त्राणस्थानम् । कृपाणो=नन्दकाख्यः खड्गः करे=हस्ते यस्य स तथा । सुरैः=देवैः प्रणतस्तत्पक्षस्थितत्वेन तज्जयदायित्वात् । धर्म्मो=धनुः शार्ङ्गाख्यं चक्रं=सुदर्शनाख्यं धरतीति धर्म्मचक्रधर इति गाथार्थः ॥ १३२ ॥

अथ विरञ्चिना साम्यमाह—

दंसिअवयणविसेसो, परमप्पाणं च मुणइ जो सम्मं ।
पयडविवेओ छच्चरणसम्मओ चउमुहु व्व जए ॥ १३२ ॥

व्याख्या—यश्चतुर्मुख इव=ब्रह्मेव जगति वर्त्तते । किंविशिष्टः ? दर्शितः=प्रतिपादितः “ सच्चमघट्टिअमम्मं, सम्मं सद्धम्मकज्जसज्जं च । हिअमिअमहुरमगव्वं, सव्वं भासिज्ज मइपुव्वं ॥ १ ॥ ” इत्यादिनोपदेशेन वचनस्य=भाषणस्य विशेषो=विशेषणं भेदो=गुणो येन स दर्शितवचनविशेषः । दर्शितः=व्याख्यातः, “ लिंगतिअं कालतिअं, वयणतिअं तह परोक्खं पच्चक्खं । उवणयऽवणय चउक्कं, अज्झत्थं चेव सोलसमं ॥१॥ इति सिद्धान्तोक्तो वचनस्य विश्लेषो=विरोधो येनेति वा । परम्=आत्मीयव्यतिरिक्तम् ‘ अप्पाणं ’ चेति प्राकृतत्वादात्मीयं मुणति=वेत्ति ‘ सम्मं ’ सम्यक्=निःसन्देहं, साधर्म्मिकवैधर्म्मिकपरिज्ञानेन हि तदनुरूपवात्सल्योपेक्षणोपपत्तिः, अत एव प्रकटः=स्पष्टो विवेकः=कृत्याकृत्यपरिज्ञानं यस्य स तथा । ‘ छच्चरणसम्मओ ’ त्ति, सामायिक–च्छेदोपस्थापनिक–पारिहारिक–सूक्ष्मसंपराय–यथाख्यात–देशविरति–लक्षणं षड्विधं चरणं=चारित्रं षड्चरणं तत् सम्मतं यस्य, षट्संख्यानि वा सम्मतानि=दानेनासेवनमनोरथेन वेष्टानि यस्य स षड्चरणसम्मतः, षड्चरणाः=षट्प्रज्ञाविदग्धास्तेषां वा सम्मतः । चतुर्मुखपक्षे च दर्शितवदनविशेषः, चतुर्मुखत्वेनैवावलोकितः शेषलोकेभ्यो वक्त्रविशेषो यस्य स तथा । परमात्मानं=प्रकृष्टक्षेत्रज्ञं सम्यक् जानाति, परमात्मपदसंस्थितो वर्त्तते ब्रह्मेति लोके प्रख्यातिश्रवणात् । प्रकटाः प्रसिद्धा विवेदाः=विशिष्टा ऋग्यजुःसामाथर्वणाख्या वेदाः=छन्दांसि यस्मात्स प्रकटविवेदः । प्रकटः प्रकाशो वेः=प्रस्तावा-

च्छ्वेतगरुन्मतो वेगो=जवो यस्य स तथेति वा, यो हि यमध्यारूढो विहरति तस्य तद्वेगः स्फुट एव भवति । 'छच्चरणस-म्मओ 'त्ति, षड्चरणानां सम्मतः=इष्टः, अयमभिप्रायः—मधुकरा हि मकरन्दलम्पटाः, से च पद्मे कदाचिदासीनोऽपि स्यादसौ ततो यो हि यदीयं वस्तूपयुङ्क्ते तस्य तद्वस्तुस्वामी सम्मतो भवत्येवेति न काप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥ १३३ ॥

तस्य तर्हि शम्भुनाऽपि सह साम्यमस्तु, नेत्याह—

धरइ न कवड्डयं पि हु, कुणइ न बंधं जडाणवि कया वि ।
दोसायरं च चक्कं, सिरम्मि न चडावए कह वि ॥ १३४ ॥

संहरइ न जो सत्ते, गोरीए अप्पए न निअमंगं । सो कह ताठिववरीएण संभुणा, सह लहिज्जुवमं ॥१३५॥

व्याख्या—यो हि भगवान् न धारयति=नाङ्गीकुरुते कपर्दकमपि आस्तां रूप्यसुवर्णादिकम् । न करोति=न विधत्ते बन्धं=संग्रहं जडानां=मूर्खाणां कदाचित् । तथा दोषाकरं=दूषणनिधानं चक्रं=मायाविनं न शिरसि=मस्तके चटापयति=आरोपयति कथमपि, प्रत्युत तादृशं ज्ञात्वा कृष्णभुजङ्गमिव दूरतः परिहरति । तथा न संहरति=न विनाशयति सत्त्वान्=प्राणिनः पिपीलिकाया अपि अद्रोहकत्वात् । तथा नार्पयति न ददाति निजं=स्वकीयमङ्गम्, कस्याः ? गौर्याः " गौरी शिवप्रिया देवी, गौरी गोरोचना मता । गौरी स्यादप्रसूता स्त्री, गौरी शुद्धोभयान्वया ॥ १ ॥ " इति शब्दरत्नप्रदीपपाठात् अप्रसूता स्त्री तस्याः । स

१ श्वेतगरुन्मान्=श्वेतपक्षी—ब्रह्मप्रसङ्गात् ' हंसः ' इत्यर्थः । २ स च=ब्रह्मा ।

कथं ' तव्विवरीएण 'त्ति तस्माद्भगवतो विरुद्धचरितस्तेन तद्विपरीतेन उपमां=साधारण्यं तुल्यतां लभेत=प्राप्नुयात् यायादित्यर्थः । केन ? इत्याह—शम्भुना=श्रीकण्ठेन ? न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि–असौ कपर्दं धारयति, जडबन्धं विधत्ते, दोषाकरं चक्रं शिरसि चटापयति, सत्त्वान् संहरति, गौर्याः स्वकीयमङ्गं समर्प्पयति, इति विरुद्धचेष्टितत्वं शम्भोः । अथ च–कपर्दोऽस्य जटाजूटस्तं धरति, जटानां लम्बमानानामुपरि कृत्वा बन्धं कुरुते, दोषाकरं=चन्द्रमसं चक्रं=कलामात्रं शिरसि धारयति, प्रलयकाले च सत्त्वान् संहरतीति पूर्वक एवार्थः, गौर्याश्च=पार्वत्या निजाङ्गं समर्प्पयति । अत्यन्तरागी ह्यसौ, ततस्तेन गौर्या सार्द्धं निमेषार्द्धमप्यवियोगमीप्सुना पार्वती वामाङ्गे धारिता तेनासौ लोके ' अर्द्धनारीश्वरः ' इति प्रसिद्धः, उक्तश्च तथाभूतमालोक्य केनचित्—

" एको रागिषु राजते प्रियतमा–देहार्द्धहारी हरो, नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरघस्मरोरगविषव्यासङ्गमुग्धो जनः, शेषः कामविडम्बितो न विषयान् भोक्तुं विमोक्तुं क्षमः ॥ १ ॥ "

इति व्यतिरेक इति गाथार्थः ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

अथातिशयितगुरुभक्तितरलितचेताः समस्तविद्यानिधानं स्वगुरुमुत्प्रेक्ष्य तन्निधानत्वे निमित्तं संभावयन् गाथाचतुष्टयमाह—

साइसएसु सग्गं–गएसु जुगपवरसूरिनिअरेसु । सव्वाओ विज्जाओ, भुवणं भमिऊण संताओ ॥१३६॥

तह वि न पत्तं पत्तं, जुगवं जवयणपंकए वासं। करिअ परुप्परमच्चंतं पणयओ हुंति सुहियाओ॥१३७॥

अन्नोन्नविरहविहुरोहतत्तगत्ताउ ताउ तणुईओ। जायाओ पुन्नवसा, वासपयं पि जो पत्तो ॥ १३८ ॥

तं लहिअं वियसियाजो, ताओ तवयणसररुहगयाओ। तुट्ठाओ पुट्ठाओ, समगं जायाउ जिट्ठाओ॥१३९॥

व्याख्या—पूर्वं हि युगप्रवराः=युगप्रधानाचार्याः श्रीहरिभद्रसूरिप्रमुखाः, सूरीणां="धीमान् सूरिः कृती कृष्टिः"—इत्यमरसिंह (कां. २ वर्ग ६ श्लो. ५) वचनात् धीमतां च श्रीधनपालप्रभृतीनां निकराः=समूहाः सातिशयाः=अतिशयविद्यान्विता अभूवन्, अधुनातनकाले च ते सर्वे स्वर्गं गताः ततस्तेषु त्रिदिवपदवीं प्राप्तेषु सत्सु व्याकरणा-न्वीक्षिक्य-लङ्कार-च्छन्दो-ज्योतिष्क-चूडामण्य-ध्यात्मागमादिविद्याङ्गना भुवनं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा श्रान्ताः, किमिति ? इति चेत् निराश्रयाः सत्यः। ननु कथं तासां निराधारत्वं यतोऽस्यां बहुरत्नायां वसुन्धरायां सन्त्येव वैयाकरण-तार्किक-सैद्धान्तिका-लङ्कारिका-श्छान्दस-ज्योतिषिक-नैमित्तिकाश्च बहवस्ततो वैयाकरणाद्यमेव स्वं स्वमाश्रयन्तु ताः, किमिति महासत्यः पृथ्वीमण्डलं भ्रमन्त्य आत्मानमायासयन्ति ? सत्यं, सन्ति परमन्धयष्टिकल्पास्ते, तथा चोक्तं कर्पूरपण्डितपृष्टया शारदादेवतयैव, तथाहि—

कन्ये ! काऽसि ?, न वेत्सि मामपि कवे ! कर्पूर ! किं ?, भारती, सत्यं किं विधुराऽसि ?, वत्स ! मुषिता, केनाम्ब ?, दुर्वेधसा।

किं नीतं वद ?, मुञ्ज भोजनयनद्वन्द्वं, कथं वर्त्तसे ?, धत्ते सम्प्रति मेऽन्धयष्टिघटनां श्रीमोक्षराजः कविः ॥ १ ॥ ”

अतस्तैस्तासां न सन्तोषः । किञ्च प्रतिपन्नसखीभावत्वेनैकमेव पात्रं स्वाश्रयार्थं ता गवेषयन्ति, परं अद्यापि तादृग् विद्यापात्रं न प्राप्तमेताभिः, यदीयमुखपद्मे युगपन्निवासं विधाय परस्परात्यन्तप्रीतिमत्यः सुखिताः सुस्थिता भवेयुः, ततोऽन्योन्यविरहवशोद्भूतदुस्सहदुःखपरम्परातप्तास्तास्तन्वङ्ग्यः संवृत्ताः, तथापि “ व्यवसायः फलति निश्चितम् ” इति विचिन्त्य गवेषयन्तीभिः पुण्यवशाद् यो भगवान् स्वावासस्थानमपि संप्राप्तस्ततस्तं लब्ध्वा=प्राप्य विकशिताः=विस्तृता विद्यादेवतास्तदीयवदनारविन्दकृतावस्थानास्तुष्टाः=हृष्टाः, पुष्टाः=उपचिताङ्ग्यः, ज्येष्ठाः=समस्तलोकपूज्यत्वेन गरिष्ठाः संजाताः, इति साभिप्रायगाथाचतुष्टयार्थः ॥ १३६-१३७-१३८-१३९ ॥

पुनर्गुरुं प्रति प्रकटितात्यन्तबहुमानसारः प्राह प्रकरणकारः—

जाया कइणो के के, न सुमइणो परमिहोवमं तेवि। पावंति न जेण समं, समंतओ सव्वकवेण ॥१४०॥

व्याख्या—कवयः=व्यास-वाल्मीक-कपिला-त्रेय-बृहस्पति-पाञ्चाल-कालिदास-माघ-भारवि-मनु-मार्कण्डि-वाक्पतिराज-प्रभृतयः के के क्षितितलव्याख्यातकीर्त्तयः सुमतयः=लोकापेक्षया किल शोभनधियो नास्यां वसुन्धरायां जाताः=उत्पेदिरे ? परं=किन्तु इह=अत्र जगति तेऽपि उपमां=तुलां समतां येन प्रभुणा समं=साकं न प्राप्नुवन्ति=न लभन्ते । ननु कियन्तोऽपि तेन सह साम्यं यास्यन्ति ? नेत्याह—‘ समंतओ ’त्ति सामस्त्येन ये केचन कवयो जनप्रसिद्धाः । आह—केन

कृत्वा—किं रूपेण कुलेन शीलादिना वा ? न तु सर्वैः प्रकारैः परं कविभिः काव्येनैव साम्यं युज्यते, अत उच्यते—सर्वकाव्येन=सर्वं=निखिलं प्राकृतं संस्कृतं समसंस्कृतं मागधभाषया पिशाचभाषया सूरसेनीभाषया[च] नानाचक्रबन्ध—शक्तिबन्ध—शूलबन्ध—शरबन्ध—मुशलबन्ध—हल—वज्र—खड्ग—धनु—र्बन्ध—गोमूत्रिकाबन्धादिचित्रबन्धरूपं, तदपि स्रग्धराशार्दूल—मन्दाक्रान्ता—शिखरिणी—मालिनी=प्रभृतिनानाछन्दोभेदैः, तत्रापि—उत्प्रेक्षाऽलङ्कारेण, अर्थान्तरन्यासालङ्कारेण, रूपकालङ्कारेण व्यतिरेकालङ्कारेण वक्रोक्त्यलङ्कारेण किं बहूक्तेनान्यैरपि—उपमा—ऽनुप्रास—संशय—दृष्टान्त—यथासंख्यव्याजोक्ति—विषम—विरोधादिभिरलङ्कारैः, ततोऽपि शब्दचित्रार्थचित्र—प्रश्नोत्तर—क्रियागुप्त—सव्यङ्गय—कान्त्योजः—प्रसन्नता—गम्भीरार्थतादिसमस्तगुणोपेतं यत्काव्यं=निपुणकविकर्म तेन सर्वकाव्येन। ईदृशं च काव्यमस्य भगवतोऽद्य यावद् यो यः पश्यति कोविदः स स क्षुत्पीडित इव द्राक्षाक्षीरखण्डशर्करादिमाधुर्ययुक्तं खाद्यमोदकादिपक्वान्नमिव स्वमुखान्न मुञ्चति, अतो व्यासवाल्मीकिप्रमुखाणां रामायणभारतादिशास्त्रकर्तॄणां कवीनां वालुकाचर्वणमिव निरास्वादं सर्वापशब्दमयमपशब्दप्रायं काव्यं प्रभुसत्कसदलङ्कारादिपूर्वोक्तगुणविशिष्टस्य काव्यपञ्चजनस्य पादेऽपि बद्धं न शोभते। न चैतच्चन्दनद्रुम इव निष्फलं स्वगुरुसौरभं, किन्तु तस्य समविषमकाव्यविसृत्वरशेमुषीपराभूतवाचस्पतेः सकलकविचक्रचक्रवर्तित्वं सूपपन्नमिति गाथार्थः ॥ १४० ॥

अथोक्तमेवार्थं पुनर्भङ्गयन्तरेणोदीर्य अर्थान्तरन्यासेन समर्थयन्नाह—

उवमिज्जंते संते, संतोसमुविंति जम्मि नो सम्मं। असमाणगुणो जो होइ कहणु सो पावए उवमं ॥१४१

व्याख्या—उपमीयमाने=सदृशीक्रियमाणे यस्मिन् सन्तः=विचक्षणाः, नो=नैव साम्यं=समतां समुपयान्ति=गच्छन्तीत्यत्र न काऽपि विप्रतिपत्तिरिति । अमुमेवार्थं समर्थ्यार्थान्तरन्यासालङ्कारेण द्रढयति—असमानगुणः=असाधारणधर्म्मो यो भवति कथं नु स प्राप्नोति उपमां=साम्यं ? न कथञ्चिदित्यर्थः, अतो युक्तमेवैतदिति गाथार्थः ॥ १४१ ॥

ननु यावद्गुणोऽसौ त्वया वर्णितस्तावन्त एवास्य गुणाः ? नेत्याह—

जलहिजलमंजलीहिं, जो मिणइ नहंगणंपि हु पएहिं । परिसक्कइ सो वि न सक्कइ जग्गुणगणं भणिउं ॥

व्याख्या—ननु जलधिजलं=महासमुद्रसलिलं मातुं=संख्यातुमञ्जलिभिः शक्यते ? नहि । अथ को नभोऽङ्गणं पदैः=चरणैः परिष्वष्कते=परिभ्राम्यति तस्यान्तं यायादित्यर्थः, नहि नहि । ननु अस्त्येवं, परं जलधिजलमपि यो मिनोति, नभोऽङ्गणमपि पदैः परिष्वष्कते सोऽपि यद्गुणगणं भणितुं न शक्नोतीत्यतीवदुःशकत्वं भणितं भवतीति गाथार्थः ॥१४२॥

अथ कस्यान्तिके तेनागमः कथं शुश्रुवे ? तत्राह—

जुगपवरगुरुजिणेसर,-सीसाणं अभयदेवसूरीणं । तित्थभरधरणधवलाणमंतिए जिणमयं विमयं ॥१४३॥

व्याख्या—युगप्रवरश्रीजिनेश्वरसूरीणां शिष्याणां श्रीअभयदेवसूरीणाम्, कीदृशानाम् ? तीर्थभरधरणधवलानां=प्रवचनधुराभारधारणोद्धुरकन्धरधौरेयाणाम्, अन्तिके=समीपे येन जिनमतम्=अर्हदागमः विमतं=विशेषेण सातिशयं मतम्=अस्तित्वेन ज्ञातमिति गाथार्थः ॥ १४३ ॥

[अथ] ज्ञात्वा तत्पार्श्वे सिद्धान्तं ततः किं कृतं तेन ? इति गाथा प्रथमपदेनाह—

सविणयमिह जेण सुयं, (१४४)

व्याख्या—श्रुतम्=आकर्णितं येन=प्रभुणा । (यदि) स्तब्धेन प्रमादिना चेच्छ्रुतं तदा किं तेन ? तत्राह—सविनयं= निरन्तरं गुरुमुखमीक्षमाणेन कृताञ्जलिपुटेन गुरुभावानुवर्तिना पदे पदे शिरो नमयता 'मस्तकेन वन्दे२' इति मृदुमधुरशब्देनोच्चरता च श्रुतं, न तु विकथानिद्राप्रमादोपेताचार्यप्रद्वेषकत्वान्यमनस्कत्वादिदूषणकलापकलुषितेनेति प्रथमपदार्थः(१४४)

ननु भवतु सविनयं श्रवणं, परं यदाऽऽचार्यः साभिप्रायं प्रकटितशिष्यस्नेहं सोद्यमं ज्ञापनबुद्ध्या ग्रन्थार्थं न प्रतिपादयति तदा तदपि निष्फलं, तत्र गाथाद्वितीयपदेनाह—

सप्पणयं तेहिं जस्स परिकहिअं । (१४४)

व्याख्या—तैरपि=श्रीअभयदेवाचार्यैर्यस्य सप्रणयं="प्रणयः प्रेमयाञ्चयोः । विश्रम्भे प्रसरे वापि" इति (हैमानेकार्थ० १०९०) वचनात्सप्रेम सविश्रम्भं च कथितं=प्रतिपादितम् । अयमभिप्रायः—निरुपहतकारणं ह्यवश्यं स्वसाध्यं जनयति, कारणं च श्रुतलाभस्य विधिना विनय एव, ततो गुरवः प्रसन्नाः निश्शेषमप्यर्थजातं तस्मै प्रदिशन्ति, भणितं च—

"विणयजुयम्मि सीसे, दिंति सुयं सूरिणो किमच्छरिअं ? को वा न देइ भिक्खं, किं वा सोवन्निए थाले ? ॥ १ ॥
सेहम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे । नहु दिज्जइ आहरणं, पलिउंचिअकन्न-हत्थस्स ॥ २ ॥"

इति गाथाद्वितीयपदार्थः (१४४) ॥

अथ भवतु शिष्यस्य सविनयं श्रुतग्रहणं, गुरोरपि सप्रश्रयं प्रतिपादनं, तथापि यद्येकस्मिन् कर्णे प्रविष्टं द्वितीये च निर्गतं हृदये न किमपि निविष्टं तत्र गाथोत्तरार्द्धेनाह—

कहिआणुसारओ सव्वमुवगयं सुमइणा सम्मं ॥ १४४ ॥

व्याख्या—कथितानुसारतः=भणितप्रमाणेन सर्वं=समस्तं सम्यक् तेन सुमतिना-शोभना च=" शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ १ ॥ " इत्यष्टगुणयुक्ता मतिः=बुद्धिर्यस्य स सुमतिस्तेन सुमतिना उपगतं ज्ञातं=हृदयेऽवस्थितमिति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

ननु यदि श्रुतं, ज्ञातं, हृदयेऽवधारितं, तथापि किं यदि भव्यलोकानां पुरतो यथोचितदेशनया न प्रकाश्यते ? तत्राह—

निच्छम्मं भव्वाणं, तं पुरओ पयडिअं पयत्तेण। अकयसुकयंगिदुल्लह,–जिणवल्लहसूरिणा जेण ॥१४५॥

व्याख्या—निश्छद्म=निर्मायं भव्यानां पुरतस्तत्=जैनश्रुतं येन प्रकटितं=प्रकाशितम् । किमवहेलयैव ? नेत्याह–प्रयत्नेन= आदरेण ' कथमेते भव्यसत्त्वाः संसारसागरं लङ्घयित्वा निर्वृतिसौधमधिरोक्ष्यन्ती ? ' तिबुद्ध्या, येन, केन ? इत्याह— अकृतं सुकृतं यैस्ते अकृत–सुकृताः=निष्पुण्यास्ते च ते अङ्गिनश्च=प्राणिनः अकृतसुकृताङ्गिनस्तेषां दुर्लभ एवंविधो यो जिन-

वल्लभो=भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिस्तेन अकृतसुकृताङ्गिदुर्लभजिनवल्लभसूरिणा । अत्र च 'अकृतसुकृताङ्गिदुर्लभ' इतिविशेषणेन गुरावतिशयितस्नेहानुवन्धं ज्ञापयतीति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

ननु तेन सहास्ति भवतः कश्चिदत्र सम्बन्धस्तत्र येनैवं प्रतिबन्धोऽप्यतीव महान् ? इत्याह—

सो मह सुहविहिसद्धम्मदायगो तित्थनायगो य गुरू ।
तप्पयपउमं पाविअ, जाओ जायाणुजाओ हं ॥ १४६ ॥

व्याख्या—किं ब्रूमहे ! स भगवान् मम शुभविधिसद्धर्म्मदायकः-शुभः=प्रशस्यो विधिः=ज्ञानचारित्रादिविषयः सङ्घव्यवस्थाविषयश्च प्रकारो यस्मिन्नसौ शुभविधिः, स चासौ शोभनार्थसच्छब्दविशिष्टो धर्म्मश्च, असौ शुभविधिसद्धर्म्मः तस्य दायकः । तथा तीर्थस्य=वीरस्वामिनो नायकः=तत्तुल्यतयाऽधिपतिस्तीर्थनायकः । तथा गुरुः श्रीअभयदेवसूरीणां पट्टोद्योतकत्वेन ममापि तत्पट्टोपविष्टत्वेन च । तत्पदपद्मं प्राप्य जातः=संपन्नोऽहं, जाताः=समयभाषया गीतार्थास्तेषाम् अनुजातः=पश्चादुत्पन्नः, गीतार्था वा अनुयाताः=अनुगताः सूत्रानुसारिक्रियाप्रवर्त्तकत्वेन येन स जातानुजातो जातानुयातो वा । भवत्येव हि सदाश्रयवशान्मालिन्योन्मुक्तशुक्तिकासंपुटसंटङ्काज्जडस्यापि मुक्तामणित्वमिति गाथार्थः ॥ १४६ ॥

यत एवासौ शुद्धसद्धर्म्मदायकस्तीर्थनायकः प्रभावक उपकारकः संसारनिस्तारकोऽतः—

तमणुदिणं दिन्नगुणं, वंदे जिणवल्लहं पहुं पयओ । सूरिजिणेसरसीसो, य वायगो धम्मदेवो जो ॥१४७॥

सूरी असोगचंदो, हरिसीहो सव्वदेव[सव्वएव]गणिप्पवरो। सव्वे वि तव्विणेया, तेसिं सव्वेसिं सीसोहं ॥१४८॥
ते मह सव्वे परमोवयारिणो वंदणारिहा गुरुणो। कयसिवसुहसंपाए, तेसिं पाए सया वंदे ॥१४९॥

व्याख्या—तं=श्रीजिनवल्लभं प्रभुं=स्वामिनम् अनुदिनं दत्तगुणं वन्दे प्रयत इति पूर्वमेव व्याख्यातम्। 'सोमहसुह(१४६) इत्यादि गाथायां तच्छब्दे सत्यपि विशिष्टक्रियाभिसम्बन्धात् 'तमणुदिण' मिति गाथासत्कतच्छब्देन पूर्वत्र यच्छब्दस्य सम्बन्धः कृतः। तथा अत्यन्तं कृतज्ञो ह्ययं भगवान् शास्त्रकारोऽत आह–सूरिजिनेश्वरशिष्यश्च वाचको धर्म्मदेवो यः, । तथा सूरिरशोकचन्द्रः, तथा हरिसिंहाचार्यः, तथा सर्वदेवनामा गणिप्रवरः, एते सर्वेऽपि तस्य=धर्म्मदेवोपाध्यायस्य विनेयाः= शिष्यास्तेषां च सर्वेषामप्यहं शिष्यः। कीदृशास्ते महात्मानः? सर्वेऽपि मम परमोपकारिणः, तत्परमोपकारिता च प्रागेवा-दर्शिता, अत एव वन्दनार्हा गुरव आराध्या इत्यर्थः। ततः कृतशिवसुखसंपातान्=विहितमोक्षसातागमान् तेषां पादान् सदा वन्दे=नमस्यामीति गाथात्रयार्थः ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

इदानीं भगवानयं ग्रन्थकारो ग्रन्थसंख्याभिधानपूर्वकं भव्यानामिष्टमाशंसन्नाह—

जिणदत्तगणिगुणसयं, सप्पन्नयं सोमचंदबिंबं व। भवेहिं भणिज्जंतं, भवरविसंतावमवहरउ ॥१५०॥

व्याख्या—जिनैः=तीर्थकरैर्भव्येभ्यो भवोपकाराय दत्ता=वितीर्णा जिनदत्तास्ते च ते गणिनश्च=गणधरा गच्छाधिपतयो जिनदत्तगणिनः, तेषां गुणाः=शरीरोत्था धर्म्माः शम–दम–गाम्भीर्य–धैर्य–स्थैर्य–संख्यातीतभवसाधकत्व–रागादिबाधक-

त्वादयो जिनदत्तगणिगुणाः, तद्ग्रहणरूपं शतं गाथानामिति प्रस्तावाद्गम्यते जिनदत्तगणिगुणशतं ' कर्तृ, ' भव्यानां भवरविसन्तापं=संसारसूर्यघर्म्मम् अपहरतु=अपनयत्विति योगः। अथ किं शतं शतमेव ? नेत्याधिक्यमाह–' सप्पन्नं 'त्ति, सह पञ्चाशता वर्त्तते सपञ्चाशत् पञ्चाशताऽतिरिक्तमित्यर्थः। यस्य द्विर्भावः प्राकृतत्त्वात्। नन्वेतद्गणधरगुणस्तुतिरूपं गाथानां शतं सार्द्धं पुस्तकारूढं हृदयान्तर्वर्त्ति वा भवरविसन्तापापहारकम् ? इत्यत्राह–' भवेहिं भणिज्जंतं 'ति भव्यैः=आसन्नसिद्धिकैर्भण्यमानं=पठ्यमानम्। अयमभिप्रायः–यद्यपि पुस्तकाधिरूढं पूज्यमानमेतज्ज्ञानत्वेन ज्ञानावरणकर्मप्रमापणक्षमम्, तथा हृदयान्तःस्थमपि स्मर्यमाणमनार्यतादिप्रत्यूहापोहाय प्रभवति तथापि माधुर्यवर्य्यस्वरेण भावसारमेकाग्रचित्ततया पापठ्यमानं गुण्यमानं परावर्त्यमानमात्मनोऽन्येषां च श्रोतॄणां मनोमोदकं समस्तविघ्ननोदकं शान्तिकरं कान्तिकरं क्षेमकरमारोग्यकरं धृतिकरं पुष्टिकरं तुष्टिकरं कीर्त्तिकरं प्रीतिकरं स्फीतिकरं नीतिकरं किंबहुना ? समस्तकल्याणकरं भवति। एतावता चानेन भगवताऽऽत्मम्भरित्वमपास्तं, परोपकारस्य चावश्यंकारित्वमभिहितं, तस्यैव धर्म्मकल्पपादपबीजकल्पत्वात्, तदुक्तम्—

" परोपकारः कारुण्यं, देवताराधनं शमः। सन्तोषश्चेति धर्मस्य, परं साधनपञ्चकम् ॥ १ ॥ "

तथाऽसद्गुरुभिरप्यन्योक्तिसूक्तमुक्तं यथा—

" चिरमथमिह नन्द्याद्बद्धमूलस्तटिन्या, अधितटमुपजातो यस्तृणस्तम्ब उच्चैः।
विलसदनिलदोलल्लोलकल्लोलजाल, अपतितजनताया राति हस्तावलम्बम् ॥ १ ॥ "

अथ यद्रूपकालङ्कारेण संसारस्य भास्करत्वमारोपितं तज्जनितसन्तापापनुत्तयेऽनुरूपमुपमानमाह–सोमचन्द्रबिम्बवत्, सोमं=शीतलस्वभावं नयनाह्लादकं यच्चन्द्रबिम्बम्=अमृतकिरणमण्डलं तदिव । यथा किल चन्द्रमण्डलं भीष्मग्रीष्मोष्मसंतप्तं निखिलमपि जगत् क्षीरसमुद्राविसृत्वरक्षीरपरम्परायमाणामृतार्द्रकौमुदीधवलपटलेनाच्छाद्य मूर्छदतुच्छामृतरश्मिच्छटाभिर्निर्वापयति । एवमेतदपि प्रकरणं गणधरगुणस्मृतिपुरस्सरं सुस्वरं संवेगसारं निरुद्धाशुद्धबुद्धिप्रचारं पठ्यमानं समानं भवोद्भवभीमनिस्सीमजन्मजरामरणरोगशोकदारिद्र्यदौर्भाग्यादिकृतचित्तखेदविच्छेदमुद्यन्मेदस्विप्रमोदसंपादनेनापनुदतीत्यर्थः । अत्र च 'जिणदत्तगणी 'ति कविना श्लिष्टं स्वनामनिर्दिष्टं, तत्र चायमर्थः—जिनदत्तगणिन् ! जिनदत्ताचार्य ! इत्यात्मसम्बोधनम् । गुणशब्देनादावुपलक्षितं शतं गाथानामिति दृश्यम् । अग्रे तु यः पूर्वं प्रतिपादितः स एवार्थ इति गाथार्थः ॥ १५० ॥

। अथ प्रशस्तिः ।

श्रीमज्जिनेश्वरगुरोरन्तेषदासीच्च कनकचन्द्रगणिः । शर–निधि–दिनकर(१२९५)वर्षे, पूर्वं तेन कृता वृत्तिः ॥ १ ॥
रस–जलधि–षोडश(१६७६)मिते, वर्षे पोषस्य शुद्धसप्तम्याम् । श्रीजिनचन्द्रगणाधिप,–राज्ये जेसलसुरधराध्रे ॥ २ ॥
श्रीमति खरतरगच्छे, श्रीसागरचन्द्रसूरिनामानः । समभूवन्नाचार्या,[र्य]–वर्यास्तेषां सुशाखायाम् ॥ ३ ॥
श्रीदेवतिलकसञ्ज्ञा,–स्तिलकसमाः सर्वपाठकानां ये । तेषां शिष्या दक्षाः, श्रीमन्तो विजयराजाह्वाः ॥ ४ ॥
सौभाग्यभाग्यधैर्य्य,–स्थैर्यादिगुणौघरत्नजलनिधयः । अभवन् सदुपाध्याया,–स्तदुपाध्यायेन शिष्येण ॥ ५ ॥
तट्टीकादर्शादिह, संक्षिप्य च पद्ममन्दिरेणापि । लिलिखेऽनुग्रहबुद्ध्या, संक्षेपरुचिज्ञजनहेतोः ॥ ६ ॥
श्रीगणधरसार्द्धशतप्रकरणटीकाविधायिनि श्रमणे । श्रीगणधरप्रसादाद्भविकं सह कामितैर्भवतात् ॥ ७ ॥



॥ इतिश्रीगणधरसार्द्धशतकप्रकरणवृत्तिः संपूर्णा ॥

॥ ग्रन्थाग्रम् २३७९ ॥ श्रीर्वोभोतु ॥